प्राप्ति स्थान—

१ श्री साधुमार्गी जैन,

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराजकी सम्प्रदाय का-

हितेच्छु श्रावक मंडल, रतलाम.

२ भेंट से मंगाने वालोंको ≈) के पोस्ट टिकिट भेजने से

श्रीयुत् छगनलालजी भटेवरा.

नगरी—जिला—मन्दसौर.

मुद्रक—

राधाकृष्णात्मज बालमुकन्द शर्मा

प्रो० श्री शारदा प्रिंटिंग प्रेस,

रंगरेज रोड़, रतलाम.

सम्पादक का आवश्यक निवेदन-

मनुष्य जीवन की सफलता इसी में है कि वह अपने जीवन के अन्तिम भाग में—आलोचना द्वारा अपनी आत्म शुद्धि करके संथारा संलेखना पूर्वक समाधि भाव को धारण करता हुवा पंडित मरण मरे. और आराधिक पद प्राप्त करे।

श्रीमती धुली बाई बेवा, श्री केसरीमलजी भटेवरा नगरी वालों की भावना हुई की एक ऐसी पुस्तक हो, जिसके आधार से मनुष्य अपने जीवन की आराधना सुगमता पूर्वक कर सके। यह भावना उन्होंने अपने भतीज. श्री छगनलालजी के आगे व्यक्त की, उन्होंने मुझे कहा कि आप ऐसी कोई पुस्तक बतावें जिसमें यह सब साधन सामग्री विद्यमान हो, मैंने श्रीमान् पूनाजी इन्दर-मलजी कावड़िया द्वारा प्रकाशित "आत्महितबोध" पुस्तक बतायी परन्तु उसमें भाषा जटिल होने से पसन्द न करके एक स्वतन्त्र पुस्तक सम्पादन करने का आग्रह किया, जिसमें श्रावक जीवन के बारह व्रतों की आलोचना भी आजावे, संथारा संलेखना एवं त्याग प्रत्याख्यान की विधि भी आजावे व आत्महित बोधमें का उपयोगी साहित्य भी, भाषा का परिवर्तन के साथ आजावे-जिसके पठन पाठन से आत्मा विशुद्ध होकर परम शान्ति का अनुभव करें।

उनकी इच्छा को मान देकर प्रथक् प्रथक् स्थानों से संग्रह कर यह पुस्तक मैंनें तयार की है। इस पुस्तक की पांचसो प्रतियां तो श्रीमती धुली बाई ने उनके स्वर्गस्थ पुत्र श्री सागरमलजी की पुण्य स्मृति में-भेंट स्वरूप अमूल्य वितरण कराई है। शेष पांचसो पुस्तकें मैं अपने तरफ से 'समूल्य प्रकाशित करता हूं।

इस पुस्तक से यदि भव्यात्माओं को अपने आत्म सुधार में व आत्म कल्याण में सुविधा हुई तो मै अपने श्रमको सफल समझूंगा.

ज्येष्ठ पूर्णिमा सं. २००१ वि.	भवदीयः—
रतलाम [मालवा]	बालचन्द श्रीश्रीमाल

卐 ॐ 卐

विषयानुक्रमणिका

श्रीमुनि सुव्रतसाहिबा, दिन दयाल देवांतणा देव के ।
तरण तारण प्रभु तुम धणी, उज्वल चित्त समरूं नितमेव के ॥
॥ श्री मुनि सु० ॥ १ ॥

हूं अपराधी अनादि को, जनम जनम गुन्हा किया भरपुर के ।
लुटिया प्राण छेकायका, सेविया पाप अठार करूर के ॥२॥
पूरव अशुभ कर्त्तव्यता, तेहमना प्रभुनाहि विचार के ।
अधम उधारण विरदछो, शरणआयो अब कीजिये सहायके॥३॥
किंचित पुण्य प्रभाव थी, इणभव ओलख्यो श्रीजिन धर्मके ।
निवृतुं नरक निगोदथी, एहवो अनुग्रह करो परिब्रह्म के ॥४॥
साधुपणो नहीं संग्रह्यो, श्रावक व्रत नहीं किया अंगीकारके ।
आदर्या तो न आराधिया, तेहथी रूलियो अनंत संसारके ॥५॥
अब समकित वृत आदरूं, तदपि आराध उतरूं भवपार के ।
जन्म जी तव सफलो हुवे, इणपर वीनवुं वार हजार के ॥६॥
सुमति नराधिप तुम पिता, धन्य २ श्री पद्मावति मात के ।
तससुत त्रिभुवन तिलकतूं वंदत विनयचन्द शीश निवायके॥७॥

इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना करने के पश्चात् आत्मा को राग द्वेष के मल से धोकर विशुद्ध बनाने और शान्ति भाव में स्थापित करने के लिये शान्ति प्रकाश नाम की भाववाही कविता आगे दी जाती है ।

卐 ॐ 卐

शान्ति-प्रकाश

यह शान्ति प्रकाश राग द्वेष की अग्नि से बचकर आत्मा को सच्ची शान्ति प्राप्त करने का उत्तम साधन है। इसमें प्रथम के पच्चीस दोहे प्रभू प्रार्थना रूपहै। पच्चीस दोहे राग निवारण के, पच्चीस द्वेष निवारण के, पच्चीस दोहे धैर्य धारण करने के, पच्चीस अनुभव एवं ज्ञान महिमा के और शेष ग्रन्थ की प्रशस्ति रूप है। शान्ति प्रकाश के रचयिता मुनि श्री भज्जूलालजी महाराज ने सरल भाषा में इसकी रचना करके महान् उपकार किया है जो यहां दिये जाते हैं।

॥ प्रभू प्रार्थना ॥

प्रेम सहित वन्दौं प्रथम, जिन पद कमल अनूप।
ताके सुमरत अधम नर, होवे शान्ति स्वरूप ॥१॥
तुम शरणे आयो प्रभू, राखि लेउ निज टेक।
निर्विकल्प मम सिद्धजी, देवो विमल विवेक ॥२॥
करूं वंदना भाव युत, त्रिविध योग थिर धार।
परम पूज्य आचार्य मम, देहु ज्ञान निरधार ॥३॥

उपाध्याय अध्ययन श्रुति, निशदिन करत अभ्यास।
दीनबन्धु मुझ दीजिये, शम दम ज्ञान विलास ॥४॥
सो साधु बाधा हरो, कर्म शत्रु रणजीत।
निपुण जौहरी ज्यों लख्यो, आतम रत्न पुनीत ॥५॥
अधिक प्रिय नव रसन में, है रस शान्ति विशेष।
स्थायी भाव निर्वेद से, मेटो सकल कलेश ॥६॥
विकल मति अभिलाष अति, कपट क्रिया गुण चोर।
मैं चाहत कछु शान्ति रस, तुमसे करौं निहोर ॥७॥
कहां पै जाचूँ जाय कर, तुम सम नहीं दातार।
करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्ति विचार ॥८॥
मैं गुलाम हौं रावरो, मेरो बिगरत काज।
ताहि सुधारो बनी रहै, मेरी तेरी लाज ॥९॥
शांति छबि निरखत रहौं, जाचूं नहीं कछु और।
अरजी हुकम चढ़ाय द्यो, परचोरहुँ तम पौर ॥१०॥
जो गुण होने चाहिये, मुझमें नहीं लवलेश।
तुम चरणन आश्रित रहूं, सो बुद्धि देहु जिनेश ॥११॥
तड़पत दुखिया मैं अति, पलक पड़त नहिं चैन।
अब सुदृष्टि कर निरखिये, ढीले रहे बनेन ॥१२॥
यह सम्बन्ध भलो बन्यो, हम तुम सों सर्वज्ञ।
त्यागे ताहिं न संग रखे, पिता पुत्र लखि अज्ञ ॥१३॥
मेटहु कठिन कलेश तुम, परमातम परमेश।
दीन जान कर बाचिये, दिन-दिन ज्ञान विशेष ॥१४॥

कृपा करो निर्बुद्धि पै, लखूं ज्यूं अनुभव रीति।
अशुभ और शुभ देखिके, करूं न कबहूं प्रीति ॥१५॥
सब प्रकार धनवन्त हो, सुनहू गरीब निवाज।
आरत रौद्र कुध्यान तें, बच्च-बच्च महाराज ॥१६॥
धर्म शुक्ल ध्यावत रहूं, दोय ध्यान सुख कार।
या जग ममता उदधि तें, देवो पार उतार ॥१७॥
करुणा करिके मेटिये, विषय वासना रोग।
मैं कुपथी वेदन प्रबल, लखि मति जोग अजोग ॥१८॥
मैं गरजी अरजी करूं, सुनि हो जग प्रतिपाल।
चाह सतावे दास को, यह दुख दीजे टाल ॥१९॥
प्रभु तव सन्मुख हो रहों, देऊं जगत को पूठ।
कृपा-दृष्टि अस करहु तुम, ज्यों भव जावे छूट ॥२०॥
मैंने जो कुकर्म किये, दीखत है सब तोय।
मह्र करो प्रभू दीन पे, फेरन दुख दे मोय ॥२१॥
विपत्ति रही मोय घेर के, सुनी न अजहुं पुकार।
मेरी बिरियां नाथ तुम, कहां लगाई बार ॥२२॥
ऐसी बिरियां में कहां, टरि गये दीनदयाल।
विना कह्यां कैसे रहूँ, अब तो कर प्रतिपाल ॥२३॥
जो कहलाऊं और पै, मिटे न मम उरझार।
मेरी तुमरे सामने, मिटसी मन की रार ॥२४॥
दुष्ट अनेक उद्धार के, थकि रहे किंसों दयाल।
धीरे-धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥२५॥

—: राग निवारण अंग :—

अरे जीव भव वन विषैं, तेरा कौन सहाय ।
जाके कारण पचि रह्यो, ते सब तेरे नांय ॥२६॥
संसारी को देख ले, सुखी न एक लगार ।
अब तो पीछा छोड़ तूं, मत धर सिर पर भार ॥२७॥
झूठे जग के कारने, तू अति कर्म बंधाय ।
तू तो रीता ही रहे, धन पेला ही खाय ॥२८॥
तन धन संपत पाय के, मगन न हो मांय ।
कैसे सुखिया होयगा, सोवत लाय लगाय ॥२९॥
ठाठ देख भूले मति, यह पुद्गल पर्याय ।
देखत-देखत थांहरे, जासी थिर न रहाय ॥३०॥
लूटेंगे ज्ञानादि धन, ठग सम यह संसार ।
मीठे वचन सुनाय के, मोह फांसि गल डार ॥३१॥
किसो भूत तोकों लग्यो, करे न तनक विचार ।
ना माने तो परख ले, मतलब को संसार ॥३२॥
काया ऊपर थांहरे, सब से अधिकी प्रीत ।
या तो पहिले सबन में, देगी दगो निचीत ॥३३॥
विषयें दुखन को सुख गिने, कहो कहां तक भूल ।
आंख छतां अंधा हुआ, जानपणा में धूल ॥३४॥
नित प्रति दीखत ही रहे, उदय अस्त गति भान ।
अजहू न ज्ञान भयो कछु, तू तो बड़ो अयान ॥३५॥

किसके कहे नचींत तु, सिर पर फिरे जु काल ।
बांधे है तो बांधले, पानी पहिले पाल ॥३६॥
आया सो सबही गया, अवतारादि विशेष ।
तूं भी यों ही जायगा, यामें मीन न मेष ॥३७॥
यह अवसर फिर ना मिलें, अपनो मतलब सार ।
चुकते दाम चुकायदे, अब मत राख उधार ॥३८॥
कैसे गाफ़िल हो रहा, नेडा आत करार ।
निपजी खेती देय क्यों, बाटी साटे गंवार ॥३९॥
धर्म विहार कियो नहीं, कीनो विषय विहार ।
गांठ खाय रीते गये, आके जग हटवार ॥४०॥
काज करत पर घरन का, अपना काज बिगार ।
सीत निवारे जगत की, अपनी झोंपरी बार ॥४१॥
नहिं विचार तैने किया, करना था क्या काज ।
उदय होयगा कर्म फल, तब उपजेगी लाज ॥४२॥
झूठा संसारीन की, छुटेगी तब लाज ।
तब सुखिया तू होयगा, इनसे अलगा भाज ॥४३॥
अपनी पूंजी से करो, निश्चल कार विहार ।
बाँध्या सो ही भोग ले, मत कर और उधार ॥४४॥
नया कर्म ऋण काढ के, करसी कार विहार ।
देणा पड़सी पारका, किम होसी छुटकार ॥४५॥
विषय भोग किम्पाक सम, लखि दुख फल परिणाम ।
जब विरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम ॥४६॥

ऐरे मन मेरे पथिक, तू न जाव़ वहँ ठौर ।
बटमारा पाँचो जहां, करे साह कूँ चोर ॥४७॥
आरम्भ विषय कषाय को, कीना बहुतिकवार ।
कारज कछु सरिया नहीं, उलटा हुवा ख़्वार ॥४८॥
चारों संज्ञा में सदा, सुते निपुण चित्त लाय ।
गुरु समझावें कठिनसे, उपजे तउन विराग ॥४९॥
खैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करणो नहीं जोग ।
बिना विचारे तें किया, ताका ही फल भोग ॥५०॥

द्वेष निवारण अंग

बुरो कहे कोउ तो भनी, तो तू भला ही मान ।
बूरां मीठा होत है, सब बनि हैं पकवान ॥५१॥
कटु तीक्षण अति विष भरी, गाली शस्त्र समान ।
अशुभ कर्म गुम्मड मिट्यो, यों जिय सुलटी मान॥ ५२॥
कटुक वचन कोऊ कह दिया, लगेजु दिलमें तीर ।
समदृष्टि यों समझले, मो जान्यो अतिवीर ॥५३॥
वैरी होता तो कबहुँ, नहीं कहता कटु बात ।
सज्जन दीखत माहरा, रुज लखित कटुक खवात ॥५४॥
अवगुण सुणकर आपणा, रे मन ! सुलटी धार ।
मो गरीब को जानिके, लीनो बोझ उतार ॥५५॥
मैं भूल्यो शुभ राह को, इनने दई बताय ।
दुर्जन जान परै नहीं, सज्जन सो दरसाय ॥५६॥

ज्ञान अस्त सूरज हुआ, मैं भूल्यो निज हाल ।
निन्दा रूप मसाल ले, इने दिखाई राह ॥५७॥
सुनि निन्दक के वचन कूं, चित मति करे उचाट ।
यह दुर्गंधित पवन अति; बहती को मत डाट ॥५८॥
कुवचन सर क्या कर सके, तू हो जा पाषाण
तेरा कछु बिगरे नहीं, वाका ही अपमान ॥५९॥
कुवचन गोली के लगे, जो ले मन को मार ।
आपही ठंडी होयगी, हो जा शीतल गार ॥६०॥
तैंने ऊपर सों कहीं, मैंने समझी ठेट ।
खटका सबही मिट गया, एक रह गया पेट ॥६१॥
रे चेतन उलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।
कुवचन धरवर थांहरी, इणने सौंपी आज ॥६२॥
होगी सोही नीसरे, वस्तु भरी जिहिं मांहि ।
या का गाहक मत बने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥
अपना अवगुण सुण करि, मन माने जिय रीस ।
मनमें तूं यों समझले, मुझको दे आशीश ॥ ६४ ॥
क्रोध अग्नि दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।
क्षमा रूप जल छिड़कियै, नेक न लागे मोल ॥६५॥
दुर्जन चुप होवे नहीं, तू तो छिन चुप साध ।
तृण बिन परि है अगनि कहुं, आपहि होहि समाध ॥६६॥
तू तृण सम कटु बचन सुन, क्रोध अग्नि मत दाझ ।
उपल नीर सम करहु मन, तब मिलि हैं शिवराज ॥६७॥

आई गई गालि को, क्रोध चण्डाल समान ।
नेत्र पिछान चण्डालिनी, पल्लो पकरे आन ॥६८॥
प्रभु सहाय नहीं होयेंगे, रे जिय साँची जान ।
क्रोध करी जूँ हो गयो, साधू रजक समान ॥६९॥
आतम वस्त्र मेला लखि, इणने दीना धोय ।
कटुक वचन साबुन करी, निर्मल जानिके मोय ॥७०॥
जौंहरी बनि के मति करे, कुँजड़ी के संग रार ।
रतन बिखरसी थांहरा, भाजी साटे गँवार ॥७१॥
साला की गाली दई, यह विचार चित धार ।
भगिनी मम इनकी त्रिया, यों समझो व्रतधार ॥७२॥
कृतघनी बननो नहीं, दई गारि इण मोहि ।
अस आतम शीतल करौ, मम उधार तब होहि ॥७३॥
गाली एकहि होत है, बोलत होत अनेक ।
रे जिय तू बोले नहीं, तो वही एक की एक ॥७४॥
अनन्त काल पहिले प्रभु, देख रखे यह भाव ।
पडि है कटुवच श्रवणमें, ते किम टाल्यो जाय ॥७५॥

—:—:—

धैर्य धारण अंग

अय मन ! चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।
निन्दा स्तुति रिपु मित्रको, एकहि दृष्टि निहार ॥७६॥

धीरज धर भ्रम को तजौ, एह पुद्गल का ख्याल।
पर परछांहि पर रही, तू तो चेतन लाल ॥७७॥
चंचलता को छोड़ दे, धीरज की कर हाट।
कर विहार गुण माल को, ज्यूं होवे वहु ठाट ॥७८॥
निज गुण में जिय ठहर तू, पर गुण पद मत धार।
पर रमणि से राचि करि, मत कहलावे जार ॥७९॥
तम रजनी नाशे नहीं, दीपक की कहि बात।
पूरण ज्ञान उद्योत बिन, हृदय भरम नहिं जात ॥८०॥
यथा लाभ संतोष कर, चहे न कछु दिल बीच।
या विधि सुख अति अनुभवें, तो न फंसे दुखकीच ॥८१॥
मोह जनित दुख विकलपन, अथवा सुख स्वरूप।
गिने दोहू सम धीर धर, तो न परै भव कूप ॥८२॥
अपने-अपने गुणन में, थिर हैं सब ही वस्त।
तू पुनि थिरकर अपन को. तो सुख लहे समस्त ॥८३॥
दुख सुख दोनों फिरत है, धूप छांह ज्यों मीत।
हर्ष शोक क्यों करहि मन, धीरज धार नचींत ॥८४॥
अनहोनी होवे नहीं होनी नहीं टलात।
दीखी परसी आगले, ज्यों होनी जा साथ ॥८५॥
चाह किये कछु ना मिले; करिकें जहं तहं देख।
चाह छांडि धीरज धरहु, पद-पद मिलत विशेष ॥८६
सुलझे उलझे मतिरे जिया, कर विचार चुप साध।
यही अमोल औषधि, मेटे भव दुःख व्याध ॥८७॥

रे चेतन! संसार लखि दृढ कर नेकं विचार।
जैसे दे वैसी मिले, कूवे की गुंजार ॥८८॥
चंचलता को छांडि के, काट मोह गल फांस।
सम दम इम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥८९॥
अभिलाषा को त्याग कर, मनको रख मजबूत।
तव कछु सुझै अगम की, यह सांची करतूत ॥९०॥
वोतो ह्यांही वस्तु है, जाकी तोकूं चाह।
क्षण इक धीरज धारले, सहजें ही मिल जाय ॥९१॥
मत कर पर गुणमें रमण, ज्यों न लगे गल तोख।
निश्चल रह निज गुणन में, आपही होगी मोख ॥९२॥
निश्चलता सूं होयगा, रे जिय ब्रह्म समान।
तृण ही का घृत होय है, गाय चरे पयपान ॥९३॥
जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अखत्यार।
बाल न बांका होयगा, जीवत ही मन मार ॥९४॥
धीरज गुण धारण किये, सब ही दुख मिट जाय।
जैसे ठंडे लोह ते, ताता लोह कटाय ॥९५॥
जिनि जल निर्मल मधुर मृदु, करत तस को अन्त।
इम धीरज गुण चार लखि, करो ग्रहण वुधवन्त ॥९६॥
कला घटत अरु वढ़त है, नहिं शशि मंडल जान।
जन्म मरण गति देह की, यों लखि धीरज ठान ॥९७॥
सुख दुख दोनों एक से, है समझण को फेर।
एक शब्द दो अर्थ ज्यों, लाख टके की सेर ॥९८॥

सुख दुख दोऊ वेद मति, वेदे तो सम माय ।
जैसे मकरी जाल कौं, पूरे अरु खा जाय ॥९९॥
समता को धारण किये, क्यों न डटे मन लहर ।
सुने गरुड की गर्जना, मिटे सर्प को जहर ॥१००॥

॥ अनुभव ज्ञान अंग ॥

कूकश विषय विकार सम, मति भाखि मूढ़ गंवार ।
अनुभव रस तू चाखि ले, गुरु मुख करि निर्धार ॥१०१॥
पाठ किये तें एक गुन, अनुभव किये हजार ।
तातैं मनकूं रोकि कै, क्यों नै करै विचार ॥१०२॥
किये पाठ अनुभव विना, मिटे न मनका पाप ।
बाहर शीशी धोय के, करी चहे तू साफ ॥१०३॥
अल्प भार पाषाण को, जिमि लागत जल मांही ।
तिमि अनुभव बीच कर्मको, बहु बंधन व्है नांहिं ॥१०४॥
मन वच तन थिरतें भये, जो अनुभव मांहि ।
इन्द नरिन्द फणीन्द के, ता समान सुख नांहिं ॥१०५॥
अनुभव से प्रभु मिलत है, अनुभव सुख का मूल ।
अनुभव चिंतामणी तजि, मति भटके कहुं भूल ॥१०६॥
अति अगाध संसार नद, विषय नीर गम्भीर ।
अनुभव बिन नहीं पार व्है, कोटि करहुं तदवीर ॥१०७॥

जिहिं विचारते पांइ है, मन को थिर सुख ठौर।
ताको अनुभव जानिये, नहिं अनुभव कछु और ॥१०८॥
बिना बिचारे ज्ञान के, तू जंगल का रोझ।
मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥१०९॥
मन मतंग बस करन को, ज्ञानांकुश चित धार।
क्षमा थम्ब से बांध ले, लज्जा शृंखल डार ॥११०॥
श्रम तो मन रवि डाट ले, ज्ञान मूकर के स्थान।
बिन्दू सम उपयोग से, कर्म तूल की हान ॥१११॥
सीसा सम संसार है, गुरू कृपा आदित्य।
ज्ञान नेत्र बिन किम लखे, प्राण नयो ल पवित्र ॥११२॥
विषय वासना करत जो, आवे ज्ञान जगीस।
त्रेसठ का उन समय में, छिनमें होय छतीस ॥११३॥
जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो विषयन मन फेर।
और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥११४॥
ज्ञान रूप दीपक बने, बचे न कर्म पतंग।
जो रहतो दोनून में, झूठो एक प्रसंग ॥११५॥
ज्ञान संचरे जिहि समें, रहे न कर्म समाज।
और न पंछी उड सके, जहां बसेरा बाज ॥११६॥
घर नहिं छुटयो एक सों, छुटया कर्म कुढंग।
ज्ञान तणा सतसंग थी, देखो ठाणायंग ॥११७॥

क्षण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि को फेर।
मेरी मेरी त्याग दे, यों होवे सुरभेर ॥११८॥
आठ पहर ढिंग राख ले, ज्ञान स्वरूपी ढाल।
मोह अरी के विषय सर, लगे न ताकी भाल ॥११९॥
माया मोह निवार के, विषयन सो मन खींच।
जो सुख चाहे आपणो, रहो ज्ञान के बीच ॥१२०॥
भेद लहे बिन ज्ञान के, मत भूसे जिम स्वान।
लोक गडरिया चाल तज, आपन पो पहिचान ॥१२१॥
काम धेनु अरु कल्पतरु, इण भव सुख दातार।
इण भव पर भव दुहन में, ज्ञान करत निस्तार ॥१२२॥
जगत मोह फांसी प्रबल, कटत न और उपाय।
सत्संगति करि ज्ञान की, सहज मुक्ति होजाय ॥१२३॥
चिंत पारस अरु ज्ञान के, अन्तर जान महन्त।
यह लोहा कंचन करत, वह गुण देय अनन्त ॥१२४॥
प्रथम ज्ञान पीछे दया, यह जिन मत को सार।
ज्ञान सहित किरिया करूं, तब उतरूं भव पार ॥१२५॥
अति आलस परमादियो, भज्जुलाल मुझ नाम।
ज्ञानोद्यम कछु ना बने, किम सुधरे मुझ काम ॥१२६॥
दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहिं निश्चल चारित्र।
मन भ्रमतो निशदिन रहे, नहिं ठहरे एकत्र ॥१२७॥

ऐसी करी विचारणा, रे जिय अबतो चेत।
राग द्वेष पतला हुवे, ऐसा करो संकेत ॥१२८॥
चार वर्ण गुरु रतनजी, तासु भेद चौबीस।
तामे भेद जु तेरवें, करी ज्ञान बकसीस ॥१२९॥
ज्ञान पाय हुलसी सुमति, शुक्ला छठ मधुमास।
संवतरस १९३६ अग्निक भू, रच्यो शांति प्रकाश ॥१३०॥
अरिहन्त सिद्ध गणईशजी, उपाध्याय सब साध।
पंच परम गुरु दीजिये, निर्मल ज्ञान समाध ॥१३१॥

॥ इति शुभम ॥

—: मंगलाचरण :—

दोहा—

चार घाति कर्म क्षय करी, प्राप्त किये गुण चार।
ते जिनवर वन्दन करी, करूं आत्म उद्धार ॥१॥

भावार्थ—जिन महापुरूषोंने ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों का क्षय करके, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चार गुण प्राप्त किये हैं (प्रकट किये हैं)। उन श्री जिनेन्द्र भगवान को वन्दन करके आत्मोद्धार करने के लिये आत्म शुद्धि के मार्ग को ग्रहण करता हूं।

आत्मा यह-अखण्ड, अविनाशी, त्रिकाल अबाधित और ज्ञानमय पदार्थ है। किन्तु जैसी २ पर्यायों में रहता है वैसा २ कहलाता है। यथा-बहिरात्मा-अन्तरात्मा एवं

परमात्मा। बहिरात्मा उसे कहते है जो मिथ्यादर्शन के कारण अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर देहादिक में ही अहं-कार और ममत्व धारण करता है। अन्तरात्मा उसे कहते है जो स्व और परका विवेक करके पर भावत्याग, स्वस्व-रूप का चिन्तन करता है। और परमात्मा उसे कहते है जो परभाव में खींचने वाले ज्ञानावरणियादि कर्मों का समूल नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर लेते हैं। जब आत्मा परमात्म दशा को पहुँच जाती है तब तो उसे कुछ भी करने का अवशेष रहता ही नहीं और जहांतक बहिरात्म दशा में रहती हैं वहांतक उसे किसी तरह का भान ही नहीं रहता। किन्तु जो अन्तरात्मा है उसे स्व और परका भान होता है। वह विचार करता है कि इस आत्मा ने अज्ञानवश अनादि कालसें, अबतक अनन्त जन्म मरण किये हैं परन्तु इससे इसकी (आत्मा की) कोई गरज सरी नहीं। संसार में जितने भी प्राणी हैं और जिन्होंने जन्म धारण किया है उन सब के लिये मरण तो अवश्यम्भावी है। किन्तु मरण वही सराहनीय है, जिसके द्वारा अनन्तर या परम्पर प्रवाह रूप जन्म मरण का स्रोत बन्ध होकर आत्मा अपने निज स्वरूप में स्थित होकर शास्वत स्थान को प्राप्त करले।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञानीजनों ने मरण को दो विभागों में विभक्त कर दिया है यथा बालमरण और पंडित मरण जिसको शास्त्रीय परिभाषा में अकाम मरण और सकाममरण के नाम से पुकारे हैं। अकाममरण उसे कहते हैं जिस मरण को प्राणी नहीं चाहता फिरभी विवश होकर बिलखता हुआ या हाय विलाप करता हुआ मरता है ऐसा मरण बाल जीवों को होता है। क्योंकि जिस योनि में वह विद्यमान है उसीको अपना सुखका स्थान मान रखा है और उसीमें अपना ममत्व बढाता रहता है। इसी कारण यह मरना नहीं चाहता। किन्तु मरण उसके न चाहनेसे रूकता नहीं। वह तो अपना समय पूर्ण होते ही अशरण तथा असहाय चिर परिग्रहित शरीर को छोड़कर अपने उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जिस गति का आयुष्य बांधा है उस उत्पत्ति स्थान को चला जाता है।

सकाममरण उसे कहते है—जिस मरण का ज्ञानीजन इच्छा पूर्वक स्वागत करके मरते हैं वे जब देख लेते हैं कि मेरा मरण समय नजदीक आ पहुंचा है। तब शीघ्र ही सावधान होकर जीवन भरमें जो कुछ स्खलना हुई हो, भूलें की हो, व्रतादि में दोष लगे हो, उनकी सच्चे दिल से आलोचना करके समाधि भाव को धारण कर लेते हैं।

और सर्व संकल्प विकल्पों का त्याग करके इस शरीर पर से भी अपना ममत्व हटा लेते हैं। और संथारा संलेखना करके परम शान्ति धारण कर अपना शेष जीवन पूर्ण करते हैं, वे महान् आत्मा या तो तद्भवही (उसी भव में) मोक्ष प्राप्ति कर परमात्मा बन जाते हैं। या मनुष्य देवता के कुछ भव करके भवान्तर में मोक्ष प्राप्त करते हैं। और अनादि संसार परिभ्रमण रूप सन्तति का उच्छेद कर शाश्वत सुख के भोक्ता बन जाते हैं। इस लिये प्रत्येक भव्य आत्मा को अपना अन्तिम समय (मरण) सुधारने के लिये सदा सावधान रहना चाहिये।

कहावत है कि जिसका मरण सुधरा उसका भव सुधरा क्योंकि संयम, तप, त्याग प्रत्याख्यान कायक्लेश आदि साधना जीवन भर इसी लिये की जाती है. कि उत्तम चारित्र के आचरण से भावों की शुद्धि रहकर अन्तिम अवसर सुधारने की भावना जगे और वह अपना मरण सुधारे परन्तु जिसका मरण बिगड़ जाता है उसका भव भी बिगड़ जाता है एक भव ही नहीं अनेक भव-भविष्य के बिगड़ जाते हैं। विराधक आत्मा यदि देवगति में भी जावे तो वैमानिक आदि ऊंची जाति का देव नहीं होता किन्तु हलकी जाति का देव होता है। वहां ऊंची जाति के देवों का वैभव, शक्ति, यश, प्रभाव आदि सुखों

को देख देख कर मन ही मन झूरता है और आर्त, रौद्र ध्यान करके नवीन कर्मों का निकाचित बन्ध कर लेता है। वहां से आयुष्य पूरा करके पशु पर्याय पाय कर फिर नर्क निगोदादि में चला जाता है। जहां से निकलकर मनुष्य भव प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ होजाता है।

श्री भगवती सूत्र में भगवान तीर्थंकर प्रभु ने फरमाया है कि आत्मा सब से कम भव मनुष्य के करती है, उससे असंख्यात गुणा अधिक नर्क के, उससे असंख्यातगुणा अधिक देवता के और उससे अनन्तगुणा अधिक तीर्थंच के करती है। जब प्रबल पुण्योदय होता है तब आत्मा मनुष्य योनि में आती है। इसमें भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, दीर्घायुष्य, पांचों इन्द्रियें पूर्ण और निरोग शरीर इन प्रत्येक बातों का सुयोग मिलना बहुत ही दुर्लभ है। कदाचित ये सब संयोग मिल जावे तो सद्गुरू का संयोग और उनके द्वारा निग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। ये सब संयोग हमें वर्तमान काल में भाग्य योग से मिल गये हैं, अबतो आवश्यकता है उन आप्त (वीतराग) वचनों ऊपर द्रढ श्रद्धा का होने और श्रद्धा पूर्वक आत्म कल्याण के पथ में आगे बढकर प्रयत्न करने की।

श्री उतराध्यायन सूत्र के दशवें अध्ययन में श्री

गौतम स्वामि को सम्बोध कर शास्त्रकार ने फरमाया है कि ऐसी योगवाई प्राप्त होने पर भी आत्मा काम भोगों में मूर्च्छित होकर अपने निज स्वरूप को भूल जाती है। इस लिये हे गौतम! जो सुयोग्य मिला है, उसे सफल बनाने में समय मात्र का भी प्रमाद मतकर।

भगवान श्री गौतम स्वामि ने तो मिले हुए सुवर्णावसर को सफल बनाने में कुछ भी प्रमाद नहीं किया था और सम्पूर्ण केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन पाकर अपना अर्थ सिद्ध कर लिया। यह उपदेश तो हमारे ही लिये है कि हमभी प्राप्त सुयोग को सफल बनाने में प्रमाद न करें।

हमें शास्त्रकार के इन प्रवचनों को अपनाकर आत्म कल्याण करने के लिये सम्यक्-ज्ञान पूर्वक श्रद्धा सहित (सम्यक्त्व-सहित) श्री वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित साधु या श्रावक के व्रतोंको धारण करके निरतिचार उनका भली भांति पालन करना चाहिये तथा सदैव यह भावना रखनी चाहिये कि वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं आलोचना द्वारा मेरी आत्म शुद्धि करके पंडित मरण मरूंगा। यह भावना साधु श्रावक के मनोरथों में है।

इस प्रकार की भावना बढाते २ जब कोई रोग व्याधि आदि उत्पन्न होजावे जिसके प्रतिकार का उचित उपाय

करते हुए भी जब वह व्याधि शमन (शान्त) न होकर बढने ही लगे, शारिरिक शक्ति कम होने लगे, तब सावधान होकर सब से पहले अपने जीवन में जो २ विराधना हुई हो, दोषों का सेवन किया हो, अकृत्य या अनाचार किया हो, उन सबको याद कर २ के तथा त्याग प्रत्याख्यान लेकर उसका भंग किया हो, उनको याद करके गंभीर प्रकृति वाले गुरू-महाराज के आगे या गंभीर एवं जानकार श्रावक के आगे अथवा ऐसा कोई योग न मिले तो परमात्मा के समक्ष आत्म शाक्षी से उन कार्यों को जाहिर करके उनका पश्चाताप करें।

आलोचना किस प्रकार करना चाहिये-इसके लिये श्रावक के जीवन के अनुरूप आलोचनाका कुछ स्वरूप एक गुजराती पुस्तक (श्रावकनी आलोयणा) के आधार से संक्षेप मे यहां बताया जाता है।

आलोचना करने वाले भव्यात्माको पहले क्षेत्र विशुद्धि करनी चाहिये जिसकी विधि-प्रथम श्री नमस्कार मंत्रका उच्चारण करके इच्छाकारेण का पाठ कहे फिर तस्स उत्तरी का पाठ कहकर कायोत्सर्ग करे जिसमें एक या दो लोगस्स पाठका मन में चिन्तवन करे, पश्चात् कायोत्सर्ग पालकर प्रकट में लोगस्सका पाठ कहे, बाद बायां गोड़ा

ऊंचा करके दायां गोड़ा धरतीके लगा कर दोनों हाथ जोड़ कुछ नगा हुवा दो नमोत्थुणं के पाठसे सिद्ध भगवान एवं अरिहन्त भगवानकी स्तुती करे। उनकी स्तुति के बाद निम्न प्रकार आलोचना करे।

जैन दर्शन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप ये चार मोक्षके अंग माने गये हैं। इनमें कोईभी अतिचार दोष लगा हो मूलगुण उत्तरगुणकी विराधना हुई हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवन्तकी शाक्षिसे, गुरूकी शाक्षिसे और आत्म शाक्षिसे आलोचना करता हूं—

हे आत्मन! तेंने अनादि काल से इस चतुर्गति रूप संसारमें नृत्यकारकी तरह अनेक रूपोंको धारण करके अनन्त कोटानुकोटि भवकिये, परन्तु जन्म जरा मरण रूप वेदना का अन्त नहीं आया। भूतकालमें त्रस और स्थावर रूपमें, स्त्री पुरुष एवं नपुंसक रूप में, सधन निर्धन रूप में, ऊंच नीच रूपमें, सौभागी दुर्भागी रूपमें रंक और राजा रूपमें, सुरूप कुरूपमें पशु पंखी रूपमें, देवदेवी रूपमें नर्क निगोद रूपमें अवतार धारण करके सर्वजीवों के साथ माता पिता, भाई बहन, पतिपत्नी, और पुत्र पुत्री, इत्यादि अनेक प्रकार के सम्बन्ध किये और यह मेरा शत्रु यह मेरा मित्र (हितैषी) इस प्रकार रागद्वेष के वश होकर सम्पूर्ण चौदह रज्वात्मक

लोकके सर्व प्रदेशोंको एक दो नहीं परन्तु अनन्तीवार फरस आया किन्तु सम्यक्त्व विना कुछभी गरज सरीं नहीं अब मेरे पुण्योदयसे व श्री गुरुदेवकी कृपा से " श्रीजिनेन्द्र भगवान का अपूर्व धर्म " मिला है अतः प्रमाद का त्याग करके जीवनको सार्थक कर।

ये सांसारिक सम्बन्ध रखने वाले माता पिता, भाई बहन, पति पत्नी, पुत्र पुत्री इत्यादि सगास्नेही और नोकर चाकर आदि मेरे शरीर में रोगकी उत्पत्ति होने से जब मुझे पीड़ा होती है तब उसको मिटाने और मेरे दुख में भाग पड़ाने में तथा मरण आये मेरी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

मेरा शुभाशुभ कर्म मुझे ही भोगना पड़ता है। अतः यह सब माया। कल्पित सम्बन्ध झूठा जानकर इनपर से मेरा ममत्व हठाता हुं इसी तरह हाठ हवेली, चेत्र कुआ अडाण, बाग बगीचा, खेत खला और चांदी सोना जवाहिरात के भूषण इत्यादि परिग्रह भी मरण से बचाने में समर्थ नहीं है। किन्तु इनपर रहा हुआ मेरा ममत्व खींच कर दुर्गति में ले जाता है। अतः इनपर से भी मेरा ममत्व हठाता हुं।

यह औदारिक शरीर मल मूत्र का भोजन, चामड़ी से बिंटा हुआ हड्डियों का पिंजरा, अशुचि और दुर्गन्ध का स्थानक, जूने सड़े हुए वस्त्र सरिखा, वात पित्त कफ और श्लेष्म के द्वारा होने वाले रोगों का भंडार है इसका लालन पालन और रक्षण पोषण करते हुए भी यह अपना रूप बदलकर दगा देने वाला है। अतः जो महापुरुष इस शरीर के द्वारा महाव्रत अणुव्रत रूप धर्म को धारण करते है। शील, संतोष, दया, क्षमा आदि उत्तम २ गुणों का विकाश करते हैं. तप एवं त्याग का अनुशरण करते हैं। परोपकार एवं सेवा करके अपनी प्राप्त लक्ष्मी का सदुपयोग करते हैं उनको मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हुआ उनके गुणों की अनुमोदना करता हूं। तथा मैंने इस अमूल्य अवसर को पाकर गफलत की है, प्रमाद में फंसा हूं उसके लिये पश्चाताप करता हूं।

मैं दुर्भागी, छिद्रगाही, हठीला, व्यसनी, अवगुण ग्राही निर्दय, आशा का गुलाम, विषय भिखारी, स्वार्थी, निर्लज्ज, गुणचोर, विश्वासघाती, स्वामि द्रोही, धर्म द्रोही, पापी, आत्म घाती, अनेक दुर्गुणों का भंडार और स्वच्छन्द विहारी हुं। मै अपना आत्म भान भूलकर उल्टे मार्ग पर चला और सन्मार्ग चलने वाले सज्जन पुरुषों की निन्दा की उनका अपमान किया, अछते दोषों का आरोपण करके

उनको जनता में ढोंगी पाखण्डी बताने की कोशिष की, और अपनी झूठी प्रशंसा करके संसार के साम्हने सफाई पेश की इन सब दुष्कृत्यों के लिये बार २ पश्चाताप करता हुं।

मेरी आत्मा ने पूर्व काल में-चिडीमार, मच्छीमार धीवर, कोली, भील आदि कई अनार्य भव किये हैं। उनमें जो हिंसा की, कराई एवं अनुमोदी, तथा अनेक प्रकार के नीच कर्म किये, साधु श्रावक के व्रतों को लेकर भांगे, दूसरों के व्रत भंग कराने में प्रवृत्ति की उन सबको वारंवार वोसिराता हूं. और अनन्त सिद्ध केवली भगवन्त की शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं देता हुं।

—:—

॥ ज्ञान सम्बन्धी आलोचना ॥

सब से पहले ज्ञानाचार की आराधना करने के बदले मैंने निचे बताये हुए अतिचारों का सेवन किया हो, जैसे—१ सूत्र को उलट पुलट पढ़ने से, उपयोग रहित शून्य चित्त पढ़ने से, हीन अक्षर बोलने से, अधिक अक्षर जोड़कर बोलने से, पद हीन पढने से, विनय रहित स्वच्छंद पढ़ने से, योग (मन वचन काया के) हीण पढने से,

उदातादि घोष रहित पढनेसे (अथवा शुद्ध उच्चार रहित पढनेसे) योग्य एवं विनीतको ज्ञान न देनेसे विधिपूर्वक गुरु का बहुमान करता हूवा ज्ञान सम्पादन न करनेसे, अकालमें सूत्रोंकी स्वाध्याय करनेसे, स्वाध्याय कालमें प्रथम पहर और पिछली पहरको स्वाध्याय न करने से, अन्तरीक्ष एवं उदारिकादि की अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने से और स्वाध्याय स्थानपर स्वाध्याय न करनेसे जो कोई अतिक्रम व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचारका स्वयं सेवन किया हो दूसरों से सेवन कराया हो करते हुएका अनुमोदन किया होतो अनन्त सिद्ध केवली भगवानकी तथा आत्मा शाक्षिसे मिच्छामि दुक्कडं ।

मैने ज्ञानीयों के अवर्णवाद बोले हो, उनसे झगड़े किये हो, उनपर अछूत्ते दोषों का आरोपण किया हो, तथा द्वेष भाव धारण किया हो, उनके उपकारों को भूल-कर उनके दोष देखे हो, उनके ज्ञान ध्यान में अन्तराय डाली हो, विघ्न बाधा पैदा की हो, इत्यादि ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन हो, ऐसे आचरण किये हो,, मैने अपनी हठ कदाग्रह और धिठाई के वश होकर सिद्धान्त के वचनों को उत्थापे हो, विपरीत परूपणा की हो, अपनी बुद्धि कि निर्बलता के कारण सूत्र सिद्धान्त के गहन भावों को न समझने से अपनी कूतर्क लगाकर उन प्रवचनों का उपहास्य

किया हो, ज्ञान प्राप्ति के साधनभूत पुस्तक पाना आदि की अवहेलना की हो, उनका अनादर किया हो, ज्ञान एवं ज्ञानी का अविनय अभक्ति और आशातना की हो, इत्यादि उपरोक्त दोषों का जानते अजानते संकल्प पूर्वक या उपेक्षा बुद्धि से सेवन किया हो कराया हो, अनुमोदन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से बारंबार मिच्छामिदुक्कडं ।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन में दोषों को टालता हुवा ज्ञान के आठों आचारों का सम्यक् प्रकार आराधन करूंगा ।

—: दर्शन सम्बन्धी आलोचना :—

दर्शन अर्थात् तत्वों की सच्ची श्रद्धा—एवं सुदेव-सुगुरू और सत्य धर्म की पहिचान करके आत्म अनात्म का भान होने रूप सम्यक्त्व के विषय में शंकादि निम्न अतिचार दोष लगे हो—

१ श्री सर्वज्ञ वीतराग प्रणित प्रवचनो में-देश से या सर्व से शंका का होना-जैसे आत्म तत्व है या नहीं, आत्मा को किसने देखा, स्वर्ग नर्क वास्तव में है और वहां जाकर

आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म का फल भोगता है या नहीं केवल भय या प्रलोभन रूप वर्णन ही सूत्रों में है। इत्यादि शंका की हो अथवा धर्म-करणी करते समय शंकित हुवा होऊं।

२ कंखा–अन्य धर्मों में भी दयादान और परोपकार के सिद्धान्त है, इस लिये वे भी उपादेय है। इत्यादि अन्य दर्शनों की वांच्छा की हो, अथवा धर्म मार्ग में देवादिक की सहायता या लब्धियों की चाह की हो।

३ वितिगिच्छा—धर्म के फल में सन्देह करना जैसे मैं इतने २ वर्षों से धर्म का सेवन करता हूं फिर भी मुझे कुछ भी फल नही मिला, सुखी नही हुआ इत्यादि तथा साधु मुनिराजों की मलीन उपाधि देखकर घृणा करना दुर्गन्छा करना।

४ परपाखण्ड प्रशंसा—अन्य दर्शन या दर्शनी की प्रशंसा करना जिससे दूसरों का उस तरफ आकर्षण होकर वे उधर खींच जावे।

५ परपाखण्ड संस्तव–उन अन्य दर्शनियों से आलाप संलाप करना, आना जाना; आदर सत्कार देना, दानमान आदि सहवास बढाना, जिसका असर साधारण जनता पर बूरा पड़े और वे भी तरफ ललचावे।

इन पांच अतिचार दोष में से मैने किसी का सेवन किया हो, कराया हो, सेवन करने वालों का अनुमोदन किया हो तो अनन्त केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कड़ं ।

मैने इहलौकिक लाभ के लिये अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान किये हो, बहुचरा भैरव भवानी, क्षेत्रपाल, हनुमान पीर, पैगम्बर आदि देवी देवताओं की मान्यता की हो, उनकी पूजा प्रतिष्ठा यात्रा महोत्सव आदि करके उसमें धर्म माना हो। तीर्थंकर भगवान आदि लोकोत्तर पुरूषों को (धूप-दीप) चढ़ाये हों, अपनी आशा तृष्णावश इनसे भोग सामग्री मांगी हो। कष्ट आने पर द्रढता न रखकर अनेक प्रकार तप तथा व्रत किये हों, बोलमा की हो। असंयम का उपदेश किया हो, संयम तथा इन्द्रिय निग्रह का निषेध किया हो। जिससे सम्यक्त्व जावे ऐसे अनन्तानुबन्धी कषायों का सेवन किया हो, शुद्ध श्रद्धा वाले सम्यक्त्वधारी पुरूषों की निन्दा की हो उनका अपमान किया हो, उनसे ईर्ष्या की हो, द्वेषादिकका पोषण किया हो इत्यादि सम्यक्त्व सम्बन्धी अतिचार और दोषोंका सेवन किया हो कराया हो अनुमोदन किया हो

तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं।

वह दिन मेरा धन्य होगा जिस दिन मैं शंकादि दोषों को टालकर निशंकितादि आठ दर्शनाचार का सेवन करूंगा और चायक सम्यक्त्व रूपीनिधि को प्राप्त करूंगा।

चारित्र संबंधी आलोचना—

चारित्र अर्थात् संचित कर्मों को चरने (विखेरने) की जो क्रिया। उस क्रिया के दो भेद है—सर्व विरती और देश विरती, सर्व विरती में साधुजी के पांच महाव्रत और देश विरती में श्रावक के बारह व्रत हैं। यहां श्रावक के बारह व्रतों में जो अतिचार दोष लगा हो उसकी आलोचना करता हूं।

१ प्रथम स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत—जिसमें निरापराधी बेइन्द्रियादि त्रस जीवों को जान देखकर संकल्प पूर्वक (दुष्ट बुद्धि से) मारने का त्याग होता है उसके पांच अतिचार हैं। यथा—

१ किसी भी त्रस प्राणि को निर्पेक्षता पूर्वक गाढ बन्धन से बांधा हो, जिससे कि उसको पीड़ा हो तथा समय पर जल्दी न खुल सके।

२ त्रस प्राणि को निर्पेक्षता पूर्वक गाढ प्रहार दिया हो, जिससे उसकी हड्डी आदि अवयवों में चोट लगे, जोखम आजावे।

३ निर्पेक्षता पूर्वक त्रस जीव के पांव, पूंछ, सींग, कान आदि अवयवों का विच्छेद किया हो।

४ निर्पेक्षता पूर्वक त्रस प्राणि पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादा हो, जिससे वह हताश होकर महा कष्ट पावे। *

५ भात पाणी का विच्छेद किया हो, अर्थात् जो तिर्यंच या मनुष्य अपने आश्रित हैं, उनकी समय पर खुराक पानी की संभाल न करते हुए भूखे प्यासे रखा हो, अन्तराय पाड़ी हो।

---

* पुत्र पौत्र को बिना होंस सम्भाले विवाह करके पत्नी की सम्भाल का बोझा लाद देना या छोटी बहु पर घर के सब काम का भार डाल देना भी इसी अतिचार में गर्भित है।

इन पांच अतिचार में से किसी भी अतिचार का सेवन किया हो, कराया हो, अनुमोदन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवन्तकी तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं।

मैंने प्रमाद या उपेक्षा बुद्धिसे अथवा लोभ वश घूला हुवा नाज बिना देखे वापरा हो, इंधण लकड़ी बिना देखे पूंजे जलाये हों, चूल्हा सिगड़ी घट्टी उखल मूसल आदिका बिना प्रमार्जन किये उपयोग किया हो, मार्ग में त्रस जीवों को न देखते हुए अकड़ कर चला होऊं। जूं लीख मांकड आदि जीवों को धूप में या मार्ग में डालकर इनके विनाश का प्रयत्न किया हो, स्नान करते पानी भरते तथा उलीचते हुवे जीवप्राणी का यत्न न किया हो। आरंभ समारम्भ के कार्यों में सावधानी न रक्खी हो इत्यादि कार्यों में मेरी गफलत से त्रस जीवों की विराधना हुई हो, कष्ट पीड़ा पहुंचाई हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं सर्वथा प्रकार से हिंसा का त्याग करके सर्व जीवों को अभय दाता बनूंगा। वही दिवस परम कल्याणकारी होगा।

२ दूसरा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत—जिसमें जान बुझकर बड़ा झूठ बोलने का त्याग किया जाता है। जिस

झूठ से जनता में अप्रतीति हो, राज्य पंच का गुनहगार हो तथा लोग अंगुलियों बताकर निन्दा करें। ऐसे व्रत के पांच अतिचार है, जो व्रत को मलीन करते हैं, वे इस प्रकार है।

१ बिना विचारे, बिना निर्णय किये एकदम किसी के ऊपर अछत्ता दोषारोपण किया हो, जैसे हां हां तू ही चोर है, दुराचारी है इत्यादि।

२ किसी के गुप्त दोषों को जनता में प्रकट किये हो जिससे उसके हृदय को चोट पहुंचे और आपघात कर बैठे।

३ अपनी पत्नि * के गुप्त दोषों या रहस्यकारी बातों को प्रगट किये हो जिससे वह अपमानित होकर लज्जा के मारे कोई अनर्थ कर बैठे।

४ निरर्थक पापकारी खोटे उपदेश दिया हो जिससे उसे पापकर्म की प्रेरणा मिले।

५ झूठे जाली खत लेख दस्तावेज बनाकर * किसी का बुरा चिन्तवन किया हो इन पांच अतिचारोंमें से जो कोई अतिचार का सेवन किया हो कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवन्त की तथा आत्म साक्षी से मिच्छामि०।

---

१ * स्त्री अपने पति के लिये बोले।

२ * यह अतिचार वहीं तक है जहां तक उसका उपयोग न किया जाय। उपयोग में लेने पर वह अनाचार है।

इसी तरह कन्या आदि सर्व मनुष्यों संबंधी, गौ आदि पशुओं सम्बन्धी भूमि तथा भूमि से सम्बन्धित मकानात बाग-बगीचा एवं खेत खलों से पैदा होने वाले नाज, फल फूल सम्बन्धी स्वार्थवश होकर तथा स्वार्थ साधने की लालसा से झूठ बोला होऊं, दूसरों की धरोत (अमानत रकम) दबाने की नीयत से झूठ बोला होऊं, राज्य पंच के समक्ष या धर्म स्थान में किसी की खोटी गवाही दी हो, चाहे चुगली या पर निन्दा की हो, मुख की वाचालता से असम्बद्ध बोलकर अविश्वास पैदा किया हो, किसीको असभ्य दोषों में गाली-गलोच दिया हो, एल फैल कठोर भाषा बोलकर किसी को आघात पहुंचाया हो, तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं ।

वही दिन धन्य होगा जिस दिन मैं सर्वथा प्रकार से झूठ का त्याग करके सत्यवादी बनूंगा, वह दिन मेरा परम कल्याणकारी होगा ।

३ तीसरा स्थूल अदत्ता दान विरमण व्रत–जिसमें इरादा पूर्वक परवंचन बुद्धि से विश्वास देकर परधन हरण का त्याग किया जाता है, जैसे—खात लगाकर ताला तोड़कर या खोलकर, डाका डालकर उपट रास्ते बन्द

घरमें घुसकर तथा नजर चुकाकर पड़ी हुई वस्तु उठाई जावे जिससे लोक निन्दा करे, राज्य गुन्हेगार समझकर सजा दे, ऐसे अदत्त के त्याग रूप व्रत के पांच अतिचार है जो व्रत को मलीन करते हैं, वे इस प्रकार है।

१ चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु ज्यादा मुनाफा कमाने के लालच से कम भाव में खरीद की हो।

२ चोरों को चोरी करने का साधन या द्रव्य देकर चोरी करने को प्रेरित किया हो।

३ राज्य विरुद्ध कार्य यानि दाण (हांसल महसूल) चुराया हो, अथवा राज्य की सुव्यवस्था में अपने स्वार्थ के लिये धक्का पहुंचाया हो।

४ कम देने और अधिक लेने की इच्छा से खोटे तोल नाप के साधन रखे हो।

५ अच्छी वस्तु दिखाकर उसका सौदा करके देते समय उसमें वैसी ही खराब वस्तु का संमिश्रण किया हो।

इन पांच अतिचारों में से जो कोई अतिचार का सेवन मैंने किया हो, दूसरों से कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि तथा आत्म शाक्षि से वारंवार मिच्छामि दुक्कडं।

इसी तरह मैंने मित्र भेद करके (विश्वासघात करके) किसीको ठगाई, धोखा देकर धन हरण किया हो, चालाकी से हाता फेरी की हो, लांच रिश्वत लेकर सरकारी आय में अथवा मालिक की आय में रूकावटकी हो, व्याज का लोभ देकर किसी का धन हरण किया हो, भूलथाप देकर अपना लेना सिवाय अधिक रकम ली हो, पराई वस्तु अपनी करने के लिये परिवर्तन किया हो, इत्यादि कामों के द्वारा अचौर्य व्रत की विराधना खंडन हुई हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्मशाक्षी से मिच्छामि दुक्कडं ।

वह दिन मेरा धन्य होगा जिस दिन मैं सर्वथा प्रकार अदत्ता दान का त्याग करके नीतिमय जीवन व्यतीत करूंगा वही दिन परम कल्याणकारी बनेगा ।

४ चतुर्थ व्रत—स्वदार संतोष और परदार विवर्जन रूप* जिस में परस्त्री का त्याग और स्वस्त्री के विषय में मर्यादा की जाकर विषय विकार की लालसा को सीमित की जाती है। ऐसे शील व्रत के पांच अतिचार है, जो व्रत को मलीन करते हैं वे इस प्रकार हैं ।

१ * चतुर्थ व्रत में स्त्रियों को स्वपति सन्तोष परपति परिवर्जन रूप ऐसा बोलना व तमाम जगह स्त्री के स्थान में पुरुष शब्द बोलना चाहिये ।

१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे-इस शब्द के अनेक प्रकार अर्थ किये गये है। एक अर्थ तो यह है कि इत्व-रिक यानि कुछ समय के लिये भाड़ा या वेतन देकर अपनी बनाली हो उससे गमन किया जाय * दुसरा अर्थ यह है कि इत्वरिकापरिग्रहिता अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री होते हुएभी वय में अपरिपक्व (छोटी उम्र वाली है) है अबोध है उससे गमन किया हो।

२ अपरिग्रहितागमण-यह शब्दभी अनेक अर्थ सूचक है-यथा विधवा, अनाथ, कन्या या वेश्या अर्थात् जिनका पति विद्यमान नहीं है। ऐसी स्त्री से गमन किया हो। * दूसरा अर्थ यह है कि जिस कन्या की (मांगणी) सगाई अपने से हो चुकी है, परन्तु विवाह नहीं हुवा है। उसके पहले गमन किया हो; वह अपनी भावी स्त्री अवश्य है। पर पंच शाक्षि से विवाह न हुवा वहांतक अपरिग्रहिता है।

३ अनंगक्रिड़ा-दूसरे अवयवों से क्रीड़ा की हो, जैसे कुचमर्दनादि, ये कुचेष्टाएं शीघ्र ही अनाचार के समीप पहुंचा देती हैं।

---

२ * ऐसी स्त्री से गमन करना प्रत्यक्ष अनाचार है क्योंकि वह वास्तव में अपनी नहीं है परन्तु उसने ऐसा मान रखा है कि मैंने अपनी बनाली है इस लिये यह अतिचार में आया है पर है अनाचार जैसा।

४ पर विवाह करणे-इसकेभी दो तरह अर्थ होते हैं एक यह कि दुसरेके साथ सगाई हो चुकी है वैसी कन्याके साथ अपना व्याह करना दुसरा अर्थ यह है कि धनादिकी प्राप्तिके लिये स्वार्थवश होकर दूसरोंके विवाह सगपण आदि का योग मिलाकर सम्बन्ध कराना ऐसे कार्य किये हो।

५ काम भोगों की तीव्र अभिलाषा करना तथा पौष्टिक दवाइयें (मात्राएं) खाकर विकार बढाना, उन्मादकारक अतिसरस आहार करना आदि किया हो। इन पांच अति-चारोंमें से किसी अतिचार का सेवन किया हो, कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकडं।

इसी तरह बलात्कारसे या परवश होकर व्रत की विराधनाकी हो, विषय विकारोत्पादक वचन बोलकर या गुप्त अवयव दिखाकर दूसरों को मोह विकलता उपजाई हो, रूपवन्त सुसज्जित स्त्री पुरुषों को देखकर विषयेच्छा की हो केफी पदार्थ (नशेकारक) खाकर वासना जागृतकी हो, काष्ट पाषाण रबरकी पुतली को देखकर आलिंगनादि परिचारणाकी हो, माता, पिता, गुरू, गुराणी, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री आदि पर खोटी मलीन भावना आयी हो, पशु पक्षी-यों का सहयोग मिलाकर उनकी काम विकलता देख

मैथुन संज्ञा जागृतकी हो, हास्य विनोद विलास विकथादि के द्वारा कामोत्तेजनाकी हो, तिथि पर्वादि के नियम लेकर भांगे हो स्वप्न में दुष्विचारों के द्वारा व्रत भंग किया हो। इत्यादि अकल्पनीय कामों से मेरा शीयल व्रत दुपित हुवा हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से वारंवार मिच्छामि दुकड़ं।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन में सर्वथा प्रकार काम विकारों से निवृत होकर पुर्णरूपेण शीयल व्रत का पालन करूंगा वही दिन मेरा परम कल्याणकारी होगा।

५ पांचवा स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत—जिसमें आशा तृष्णा पर विजय प्राप्त करने के लिये परिग्रह का परिमाण किया जाता है, (मर्यादा की जाती है.) उसके पांच अतिचार है, जो व्रत कों दुपित करते हैं, वे इस प्रकार है।

१ खुल्ली जमीन तथा जायदाद आदि के परिमाण को उलंघन किया हो। *

२ सोना चांदी जवाहिरात के दागिने तथा बिना घड़ा सोना चांदी जवाहिर के परिमाण का उलंघन किया हो।

* परिमाण का उलंघन करना अनाचार है, किन्तु जहांतक उसे मालूम नहीं कि मेरा परिमाण (मर्यादा) उलंघन हो रहा है, वहांतक अतिचार है; वाद सेवे तो अनाचार है।

३ धन (रोकड़ नाणो) तथा धान्य का परिमाण का उलंघन किया हो।

४ दोपद—चौपद (सीका) अर्थात् मनुष्य पशु-पक्षी आदि का परिमाण उलंघन किया हो।

५ कुविय धातु अर्थात् घर वाखरा के सामान का परिमाण उलंघन किया हो। उपरोक्त वस्तुओं के परिमाण का उलंघन किया हो, कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकडं।

इसी तरह परिग्रह में अत्यधिक मूर्च्छा भाव रखा हो, धन पैदा करने के समय कर्तव्याकर्तव्य का भान भूल गया हो, चक्रवर्ती वासुदेव कुबेर आदि की ऋद्धि की वांच्छा की हो, इत्यादि पांचवें व्रत में जो दोष सेवन किया हो, कराया तो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि से आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकडं।

वह दिन धन्य होगा जिस दिन में सर्व बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से निवृत होकर सन्तोष वृति धारण करूंगा, वही दिन मेरा परम कल्याणकारी बनेगा।

६ छठादिसिपरिमाण व्रत—जिसमें दिशाओं में भ्रमण करने की मर्यादा करके अनियमित जीवन को सिमा बद्ध

किया जाता है, उस व्रत के पांच अतिचार हैं वे इस प्रकार हैं।

१-२-३ ऊंची निची तिरछि दिशाओं के परिमाण का उलंघन किया हो।

४ एक दिशा की मर्यादा घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण में वृद्धि की हो।

५ मार्ग चलते २ सन्देह प्राप्त होने परभी आगे चला होऊं तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकड़ं।

इसी तरह मर्यादा उपरान्त कागद काशीद भेजकर हिंसादि आश्रव निपजाये हो, तथा मन वचन काया के योग मर्यादित भूमि से बाहर प्रवर्ताये हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकड़ं।

७ सातवां उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—जिसमें जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों की मर्यादा करके जीवन को सीमित बनाया जाता है और छब्बीस बोलों की मर्यादा की जाती है। इस व्रत के दो भेद है यथा-१ वस्तु भोगवने रूप तथा वस्तुओं की प्राप्ति के लिये व्यवसाय कर द्रव्यो पार्जन रूप जिसमें से वस्तु भोगवने रूप व्रत के पांच अतिचार हैं, वे इस प्रकार हैं।

१ प्रत्याख्यान किये हुए-सचित पदार्थों का अजाण-पणे आहार किया हो।

२ सचित पर लगे हुए अचित द्रव्य का आहार किया हो।

३ अपक्व अर्थात् पूरीप के बिना अधपकी वस्तुओं का आहार किया हो।

४ दुपक्व अर्थात् बुरी तरह पकाई हुई (भडीत्थादि) का आहार किया हो।

५ तुच्छा वस्तुओं का-जिसमें से कम भाग खाया जाय अधिक डाला जाय, आहार किया हो, जैसे सांठा शीताफल आदि।

इसी तरह अभक्ष्य, अनन्तकाय आदि का आहार किया हो, बिना छना हुवा पानि पिया हो, चतुराई से बनाया हुवा भोजन सराय २ कर खाया हो, तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं।

इन भोग्योपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये द्रव्यों-पार्जन करने के जो व्यवसाय है, उनमें पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों को ज्ञानी महापुरुषों ने "कर्मादान" कर्म का

आदा-नयानि कर्म आने के मार्ग बतलाये हैं और श्रावक को ऐसे व्यवसाय करने का निषेध किया है, जो इस प्रकार है.

१ इंगालकम्मे–अग्नि के आरम्भ द्वारा आजीविका की हो, जैसे–कोयले बनाकर बेचना, अथवा ईंटे आदि पकाने का कार्य किया हो।

२ वणकम्मे–वन की लक्ष्मी (झाड़) काट २ कर बेचे हो तथा बाग बगीचे ठेके लेकर फल फूल बेच के आजीविका की हो।

३ साड़ीकम्मे–गाड़ा गाड़ी नाव जहाज आदि जल स्थल के वाहण बना २ कर बेचे हो।

४ भाड़ीकम्मे–पशु आदि त्रस जीवों पर भार लादकर भाड़ा (किराया) उपजाने रूप आजीविका की हो।

५ फोड़ीकम्मे–खाने आदि खोदकर पत्थरादि निकाल कर आजीविका की हो या खदान का सामान निकाल २ कर बेचकर आजीविका की हो।

६ दन्तवणिज्जे–हाथी के दांत निकाल २ कर बेचे हो हड्डीयों का व्यापार किया हो।

७ लक्खवणिज्जे–कची लाख दरख्त से निकाल कर

या निकलाकर व्यवसाय किया हो तथा लाई चपड़े का कारखाना किया हो।

८ रसवाणिज्जे—मदिरा (दारू) बनाने तथा बेचने का व्यवसाय किया हो।

९ विषवाणिज्जे—प्राणियों की हिंसा हो ऐसे जहरीले पदार्थों का व्यवसाय किया हो।

१० केशवाणिज्जे—सुन्दर केश वाली स्त्रियों का क्रय विक्रय किया हो या जानवरों का व्यवसाय किया हो।

११ जन्तपीलणकम्मे—यंत्र (मशिनरी) द्वारा तथा घाणी चरखियों द्वारा पिलने का कार्य करके आजीविका की हो।

१२ निलच्छणकम्मे—पशु आदिको नपुंसक करने रूप कार्य से आजीविका की हो।

१३ दवग्गिदावणियाकम्मे—वन खेत खला आदि में अग्नि लगाकर साफ करने रूप आजीविका की हो।

१४ सरदहतलाय सोसणयाकम्मे—तालावादि की पाल फोड़कर तथा कूवा बावड़ी आदि में से पानी खींचकर सुखाने रूप आजीविका की हो।

१५ असइजणपोषणयाकम्मे—असति अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण कर अनाचार कर्म द्वारा अथवा हिंसक जीवों को पोषकर शिकार कराने रूप आजीविका की हो, इत्यादि कर्मादानों में से जो किसी कर्मादान का सेवन किया हो, कराया हो और व्रत को दूषित बनाया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्मा की शाक्षि से, मिच्छामि दुक्कडं ।

८ आठवा अनर्थ दण्ड विरमण व्रत-जिसमें विना प्रयोजन, विना मतलब निरर्थक कर्मबन्धन कराने वाले कार्यों का त्याग किया जाता है वह अनर्था दण्ड चार प्रकार का है । यथा अपध्याना चरित, प्रमादा चरित, हिंस्रप्रदान, तथा पापकर्मोपदेश ।

१ अपध्यान विनाप्रयोजन निरर्थक दुष्टचिन्तवनरूप विचार धारा चलाते रहना जिसके द्वारा भारी कर्मों का बन्धन होता है ।

२ प्रमादवश—बेपरवाही से अग्नि का स्थान, गरम पानी, घृत, तेल आदि तरल पदार्थ के ठाम (बर्तन) उघाडे छोड़ देना जिस में अनेक त्रस प्राणी गिरकर उनका नाश होजावे ।

३ हिंसाकारीशस्त्रों का आवश्यक्ता सिवाय संग्रह रखकर लोंगोको यश प्राप्ति की इच्छासे वापरने को देना ।

४ पापकर्मोपदेश—विना जरूरत आदतसे लाचार होकर लोंगो को पाप की प्रेरणा देना, उपदेश करना ।

उपरोक्त चार प्रकार अनर्थ दण्ड के त्याग किये जाने रूप व्रत के पांच अतिचार है—वे इस प्रकार है ।

१ कंदर्प जागे ऐसी कथाएं सुनी हो या की हो ।

२ काम विकार जगे ऐसे वाक्य बोला हो, ऐसे गायन किये हो, भांड की तरह हंसी दिल्लगी की हो, नकलें की हो ।

३ मुख की वाचालता से बिना जरूरत यद्वा तद्वा बोला होऊं ।

४ अपनी आवश्यक्ता सिवाय उपकरणों (साधनों) का संग्रह बढाया हो ।

५ भोगपभोग की वस्तुओं का अधिक संग्रह किया हो, तथा उनपर तीव्रमूर्च्छा भाव रखा हो ।

इत्यादि अतिचारों में से जो कोई अतिचार दोष सेवन किया हो कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुक्कडं ।

छठा-सातवां और आठवां ये तीन व्रत गुण व्रत कहलाते हैं इनको धारण कर उपयोग सहित निरतिचार पालन करने से प्रथम के पांच अणुव्रत शुद्ध पल सकते हैं, ये इन पांच मूल व्रत में गुण पैदा करते है। इनके बिना पांच मूल अणुव्रतों का पालन नहीं हो सक्ता, इस लिये ये गुणव्रत है।

ये आठ व्रत-यावज्जीवन के त्याग करने रूप है, निवृति मार्ग के है।

९ नवमा सामायिक व्रत—जिसमें आत्मा को पूर्ण रूपेण सांसारिक जंजालों से छुड़ाकर समाधि भाव में स्थापित करने की क्रिया की जाति है, उस व्रत के पांच अतिचार है जो व्रत को दूषित बनाते हैं वे इस प्रकार है।

१ मन का दुष्प्रणिधान—अर्थात् मनको स्वछन्द प्रवर्तने दियाहो।

२ वचन का दुष्प्रणिधान—विगैर विचारे, सत्य, तथ्य, मित्त और प्रिय न बोलते हुए यद्वातद्वा बोला होऊं।

३ कायकादुष्प्रणिधान—काया को सावद्य (पापकारी) कार्यों में प्रवर्तायी हो।

४ सामायिक विसर्जन—सामायिक करते समय की था नहीं यह भूल गया होऊं।

५ सामायिक का काल पूर्ण होने से पहले ही जानते अजानते पाल ली हो।

इसी तरह सामायिक करके आत्म चिन्तन या प्रशस्त ज्ञानावलम्बन न लेते हुए विकथाएं की हो, प्रमाद का सेवन किया हो. खाने या लेने की लालसा से सामायिक की हो, सामायिक के फलस्वरूप पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति की अभिलाषा की हो तथा भविष्य विषयक निदान किया हो, सामायिक में मन वचन काय के बत्तीस दोषों का सेवन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की शाक्षि तथा आत्म शाक्षि से, मिच्छामि दुक्कडं।

१० दशवां देशावकाशिक व्रत—जिसमें—पिछले आठ व्रतों में से यावज्जीवन की जो मर्यादा की है उसको एक दिन या कुछ दिन के लिये संक्षिप्त करना और बिन जरूरत का त्याग करना अर्थात् नियम चितारना, दया करना संवर करना, उपवास करके देश पौषध करना, इसके पांच अतिचार निम्न प्रकार है।

१ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ दूसरों के द्वारा बाहर से मंगवाये हो।

२ मर्यादा उपरान्त पदार्थ दूसरों के द्वारा बाहर भेजे हो।

३ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ का शब्द करके संकेत किया हो।

४ मर्यादा उपरान्त के पदार्थ को रूप दिखलाकर जताये हो।

५ मर्यादा उपरान्तके पदार्थ का पुद्गल डालकर इशारा कियाहो

इस प्रकार दशवें व्रत के अतिचारों का कुटिलाई पूर्वक सेवन किया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि व आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकड़ं।

नोट-दशवांव्रत–जीवन की आवश्यक्ताओं को संकोचकर त्याग वैराग्य बढाने के लिये है परन्तु भोग लालसा या आवश्यकता, उसमें कुटिलता पैदा करके व्रतको दूषित करती है स्वतः न करके दूसरों से करा लेने में पाप से बचने की भावना कुटिलता पैदा करती है, माया को जन्म दे जो क्रमशः सम्कित से भी च्यूत करती (गिराती) है।

११ ग्यारहवां पोषधोपवासव्रत--जिसमें चारों आहार, शरीर शुश्रुषा, ब्रह्मचर्य तथा अव्यापार रूप चारों अंग

पूर्ण वृत्ति धारण कर के आत्मा को पुष्टावलम्बन देना और दिन रात धर्म स्थान में समाधि पूर्वक रहना जिसके पांच अतिचार है जो व्रत को दूषित करते हैं वे इस प्रकार है.

(१) जहां पौषध किया जाता उस मकान व विस्तर आदि का दिनके समय प्रतिलेखन न किया हो अथवा खराब तरह विना रीती किया हो।

(२) मकान विस्तर आदि को रात्रि के समय पूंजा न हो अथवा बुरी तरह पूंजा हो।

(३) पेशाब पाखाना आदि पठाने की जगह को दिन के समय प्रतिलेखन न किया हो अथवा खराब तरह किया हो।

(४) रात्रि के समय न पूंजा हो अथवा अविधि से पूंजा हो।

(५) पौषधव्रत को उचित प्रकार से न पाला हो चित्त समाधिमें न प्रवर्तायाहो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान्की शाक्षी से तथा आत्म शाची से मिच्छामि दुकडं।

पौपधव्रत आत्मा की समाधि बढाने के लिये किया जाता है, इम में जराभी दोष न लगना चाहिये पौषध के अठारह दोप हैं जो इस प्रकार है।

पोषध के १८ दोष.

१ पोषध के निमित से सरस २ आहार करे. २ मेथुन सेवन करे. ३ नख केश कटावे. ४ वस्त्र धुलावे, ५ शरीर की विभूषा करे. ६ सरलता से न खुल सके वैसे आभूषण पहने. ये छः पौषध करने के पूर्व दिवस लगते हैं इनको न टाले हो. ७ जो व्रतधारी नहीं है उसकी वैयावच्च करें, उससे करावे या वैसे व्यक्ति को आदर सत्कार दे. ८ पसीना होने पर शरीर को मलकर मेल उतारे. ९ दिन में नींद लेवे और रात्रि में प्रहर रात्रि गये पहले सो जावे पिछली रात्री में धर्म जागरण नहीं करे १० बिना पूंजे खाज खुजाले. ११ बिना पूंजे परठे। १२ निन्दा या विकथा करे। १३ भय खावे या भय देवें। १४ सांसारिक बात चित करे या ऐसी कथा वार्ता करे। १५ स्त्री के अंगोपांग निरखे। १६ खुल्ले मुंह अयत्ना से बोले १७ कलह (वाग्युद्ध) करे १८ सांसारिक नातेसें बोलावे-जैसे काकाजी, मामाजी, पिताजी, पुत्र-पुत्री आदि सम्बोधन इन दोषों में से किसी दोष का सेवन किया हो, दुसरों से कराया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की शाक्षि से तथा आत्म शाक्षि से मिच्छामि दुकडं।

१२ बारहवां अतिथि संविभाग व्रत अथवा यथा संविभाग व्रत जिसमें अपने खान पानादि उपभोग के पदार्थों से अतिथि साधुजनों का संविभाग करना, उनको उनके कल्पानुसार आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर उनके संयम जीवन का निर्वाह करने में सहायक होना और अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करना ऐसे व्रत के पांच अतिचार है जो व्रत को दूषित बनाते हैं वे इस प्रकार है।

(१) शुद्ध (एषणिक व प्रासुक) निर्दोष आहारादि सामग्री जो संयमी जीवन वाले साधु महात्मा के ग्रहण करने योग्य हैं उसको न देने की भावना से सचित में मिला देना, सचित वस्तु पर रख देना या उसपर सचित पदार्थ रखना कालातिक्रम करना, दूसरों को वहरा देने का कहकर आप अलग होजाना अथवा वस्तु को दूसरों की बताना मात्सर्य भाव (ईर्ष्या) कर दान देना इत्यादि अतिचारोंमें से किसी अतिचार दोष का सेवन किया होतो, अनन्त सिद्ध केवली की तथा आत्म शाची से मिच्छामि दुक्कडं।

इसी तरह साधु महात्माको नहीं गमे (रूचे) ऐसा आहारादि दिया हो, उद्गमन के सोलह दोष लगा दिये हो, साधुजन घर आनेपर उनका अनादर किया हो, जान बुझ कर दूषित आहार दिया हो, राग भाव से उनकी इच्छा न

होते हुए टंटा लगा कर निपजाया हुवा आहार दिया हो, छती योगवाई इन्कार कर दिया हो, सरीखे साधु साध्वियों में भेद भाव लाकर न्यूनाधिक भक्ति की हो, इत्यादि बारहवें व्रत में जो दोष सेवन किये हो, कराये हो, करते हुए का अनुमोदन किया हो, तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की तथा आत्म शाक्षी से मिच्छामि दुक्कडं ।

यह बारहवां व्रत मुख्यता में पात्रता की अपेक्षा से संयमी जीवन वाले उत्कृष्ट पात्र को मुख्य करके इसकी व्याख्या की है परन्तु श्रावक का यह मुख्य कर्तव्य है कि पात्रानुसार हरेक का पोषण कर अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करे, सहधर्मी की वात्सल्यता करके समाज को सुखी एवं सम्पन्न बनावे, जहां दूसरों का दुख देखकर भी दिल न पिघले और अपनी सम्पत्ति का ममत्व न घटे वहां श्रावक व्रति टिकना ही कठिन है ।

इस प्रकार बारह व्रतोंके अतिचारादि दोषोंकी तथा अठारह पापों की आलोचना कर आत्मा को पवित्र बनावें और उसमें जहां २ स्खलनाएं हुई हो उनका प्रायश्चित लेकर आत्माकी शुद्धि करे । बाद यदि शरीरकी हालत पर से या बिमारीकी असाध्यता से अपना मृत्यु निकट समझे तो संलेखना के पाठ में बताये हुए क्रमानुसार कुटुम्ब का,

तथा परिग्रहका, शरीर का ममत्व त्याग कर नये सरसे व्रतों को धारण कर अठारह पाप व चारों आहारका त्याग करके शरीरकी सालसंभाल हिफाजत आदि छोड़ता हुआ समाधि पूर्वक रहे, परन्तु यदि इतना ममत्व न हटे और शरीर समय तक चलता दिखे तो थोड़े थोड़े समयकी अवधि मर्यादा डालकर त्याग प्रत्याख्यान करता रहे जैसे मैं अमुक समय तक कुशील (अब्रह्मचर्य) का सेवन करूंगा, अमुक २ क्रय विक्रय आदि व्यापार नहीं करूंगा व्यापारार्थ बाहर नहीं जाऊंगा, अमुक २ पदार्थ का सेवन न करूंगा, रात्रि भोजन-पान न करूंगा, इत्यादि त्याग करे तथा उपवासादि अनसन या उणोदरी तप करे, सब प्रकार के अनीति के काम छोड़े, श्रावकके व्रतोंको धारण करके वृत्ति संकोच करे और अपनी भावना पवित्र बनावे, गरीब अनाथ मनुष्य एवं पशुपक्षी आदिकी रक्षा में या ज्ञानोपार्जन की संस्थाओं में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करे जिसमें आरंभ समारम्भ निपजे वैसे कार्यों के यथा अवसर त्याग करे, जैसे घट्टी, ऊखला, मूसला आदि से नाज वगैरा सचित पदार्थ पीसने, दलने का, कुवा, नदी, तालाब आदि पर जाकर नहाने धोने या पाणी लाने, जवांई ब्याही आदिको नफट गालियें गाने इत्यादि त्याग करना चाहिये। इस तरह अपनी आत्माको साधन द्वारा पुष्ट करते२

जब मृत्यु समीप ज्ञान पड़े तो संथारा संलेखणा करके पंडित मरण द्वारा देह त्याग करना चाहिये।

कोई २ विवेकी सम्यक् दृष्टि पुरूष अपना समय सन्निकट आया जानकर अपना मृत्यु सुधारने के हेतु त्याग प्रत्याख्यान या संथारा करना चाहते परन्तु कुटुम्बीजन स्वार्थ व मोहवश उनकी उत्तम भावना सिद्ध करने में विघ्न करते हो या बाधक बनते हों तब उन लोगों को अपने पास बुलाकर इस प्रकार समझावे।

अहो! इस शरीर के माता पिता! आप अच्छी तरह समझ लें कि इतने दिन यह शरीर आपका था किन्तु अब यह आपका नहीं है। अब इसका आयुर्बल पूर्ण होरहा है अतः किसी का रखा रहने वाला नहीं है। आप चाहें जितना मोह ममत्व करो, चाहे जितना स्नेह दर्शाओ परन्तु इससे कुछभी गरज पटने की नहीं है। इसकी इतनी ही स्थिति थी, अब वह पूर्ण होने आई है। अतः इस शरीर से ममत्व क्यों करते हो? इस शरीर से प्रीति करना, ममत्व करना केवल दुःख का ही कारण है। जितना अधिक ममत्व रखोगे उतना ही अधिक झूरना पड़ेगा। यह शरीर तो जितनी इसकी स्थिति अवशेष है, उतने ही समय तक रहेगा, बाद किसी की ताकत नहीं कि एक क्षण

मात्र भी इसको रख सकें। मेरी आत्मा ने जैसा शुभाशुभ कर्मों का संचय किया है और जिस गति का आयु बांधी है वहां चली जावेगा। इन्द्रचन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र किसी की यह शक्ति नहीं है कि वे देह छोड़कर परभव जाते हुए आत्मा को एक क्षण भी रोक सके। खुद देवता लोक भी जब आयुष्य पूर्ण होकर परभव में जाते हैं तब अन्य देव और देवियें मुंह ताकते ही रह जाते हैं। और काल बली उसको अपना स्थान छुडाकर उत्पत्ति स्थान को लेजाता है। अतः इस अनित्य अशाश्वत शरीर से अपना ममत्व हटाओ यदि आप मेरे हितैषी हैं, तो मुझे अपना आत्म हित साधने से न रोकें अपितु मुझे अपना आत्म कल्याण करने और भव सुधारने के लिये आप से बन सके उतनी सहायतादें मेरी आत्मा इस देहसे ममत्व हटाकर श्रीजिनेश्वर देव के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करे ऐसी मदद करें। मेरी आत्मा शरीर और कुटुम्ब का सम्बन्ध भूलकर पौद्गलिक पर्यायों से दूर हो और आत्म भाव में दृढ़ बने वैसा साहित्य या परमात्मा के शरण रूप उत्तम वचन सुनाओ, इस से मेरा विचार आत्म दशा में अटल बनकर काल कराल के सामने मोरचा मांडने को मैं समर्थ बने।

इसी तरह भ्राता भगिनी तथा अन्य कुटुम्बीजनों को भी देहकी असारता तथा धर्म ही परभव में सच्चा मित्र है,

आदि समझावे यह संसारी सम्बन्ध स्थिर नहीं हैं जिसमें भी जहां तक जिसका स्वार्थ पहुंचता है, वहीं तक प्रेम दर्शाया जाता है। स्वार्थ में बाधा पहुंची की वे ही सज्जन अप्रिय बन जाते हैं।

यह आप जानते ही हैं कि इतने दिनों तक मैंने आपकी यथा साध्य सेवा बजाई है, प्रेम पोषण किया है, पर अब यह शरीर अपना स्वभाव दिखाने लगा है, इस लिये आपकी तावेदारी उठाने में असमर्थ हूं आपभी इस शरीर से अपना ममत्व हटाओ। यदि आप मेरे सच्चे हितैषी हैं तो इस समय मुझे परभव का भाथा बन्धाओ, ममत्व है वह दुखदायी है अतः बाधक न बनते हुए मेरे साधक बनों और मुझे मरण अवसर सुधारने के लिये प्रेरणा दो।

इसी तरह स्त्री को भी बुलाकर समझावे कि हे सुभगे! तेरा और मेरा संयोग था सो अपना सम्बन्ध जुड़ा और तू ने मेरी अनन्य भाव से शुद्ध प्रेम पूर्वक सेवा की है। मैंने भी यथासाध्य तेरा पोषण किया और अपना संसार जीवन सुखी बनाया परन्तु ज्ञानी पुरूषोंने इस उदारिक शरीर का जैसा स्वरूप बताया है, वह इस रोग बिमारी के द्वारा प्रत्यक्ष दिखा रहा है, अब यह शरीर नष्ट होने वाला और दगा देने वाला है।

इस लिये मैं सावधान हो कर मेरा आत्म हित साधने को तत्पर हुवा हूं। इसमें तूं मेरी सच्ची हितैषी और पति भक्ता है तो यह अवसर मोहममत्व में डालकर मेरा व तेरा अहित करने का नहीं, किन्तु बाहर गांव जाते समय मेरे हितको लक्ष्य में रखकर सब प्रकार की सुविधा को लिये साधन सामग्री बांधती थी, इसी तरह इस समय भी परभव जाने के लिये जिस तरह मयणरेहा ने जुगबाहुको साज देकर उसके परिणामों को शुद्ध बनाये और नर्क जाते हुए को पलटाकर देवगति में पहुंचाया, उसी तरह तूं भी साजदे और त्याग प्रत्याख्यान तथा परमात्मा की शरण रूप भाता बंधा, यह अवसर मोह ममत्व करके मेरा अहित करने का है नहीं, सो हिम्मत रखकर भाता दे। यदि केवल मतलब की ही सगाई हो तो तूं तेरी जाण मेरे पास से उठ जा।

मैं जानता हूं कि मेरे मरने से तेरी दशा अनाथसी हो जावेगी परन्तु मैं क्या करूं, मेरे वश की बात है नहीं यहां सब लाचार है। मेरी शिक्षा माने तो अब तक मेरी सेवा करती थी परन्तु अब सब कुटुम्बियों की और संसारकी सेवा करना। इससे सब तेरे हितैषी बन जावेंगे। और श्रीजिनेश्वर देव का प्रतिपादन किया हुवा धर्म का आराधन करके सच्ची श्राविका बनना और वैधव्य दीक्षा का

पालन करके मेरे खानदान की शोभा बढ़ना इसी में मेरा और तेरा कल्याण है। स्त्री और भर्तार केवल देह की पर्याय है, आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है। आत्मा तेरी और मेरी सरीखी है वास्ते भविष्य में स्त्री पर्याय छूटे वैसा उपाय करना और सतगुरू की शिक्षा को हृदय में धारना अब इस अनित्य अशाश्वत शरीर का ममत्व छोड़कर धर्म का साज दे। इस प्रकार स्त्री को समझावे तथा पाठान्तर से स्त्री पति को समझावे।

अब पुत्र पुत्रियों को बुलाकर समझावे, अहो! पुत्र पुत्रियों तुम सयाने हो, समझदार हो, तुमने नैतिक व धर्म की शिक्षा प्राप्त की है सो मुझे संतोष है। नीति पूर्वक अपना संसार व्यवहार रखकर इस खानदान को दिपावोगे। तुम्हारा और हमारा इतना ही संयोग था। यह तो मेला है एक आता है, एक जाता है, अतः मेरे से मोह ममत्व हटा कर मुझे धर्म को साज दो। यही तुम्हारा कर्त्तव्य है। मोह ममत्व करने से कोई गरज पटती नहीं, उल्टी आत्मा भारी होती है। वास्ते अब मुझे आत्म कल्याण साधते हुए न रोक कर, तुम से बने सो साज दो और जैन सिद्धान्त में बताये मुजब माता पिता की सेवा चाकरी करके कोई उऋण नहीं होता परन्तु केवली प्ररुपित धर्म में जोड़ने से उऋण हो सकता है वास्ते वह समय आ पहुंचा है। यह

मौका साधना ही बुद्धिमानी है किमा धिक्यम्। मेरी शिक्षा मानोतो नीति पूर्वक वर्तना, कुटुम्बकी साल संभाल लेना, यथा साध्य उनसे प्रेम कर उनका पोषण करना और श्रीजिनेश्वर देवका धर्म मिला है, जिसकी आराधना करना, यही जीवनका सार है। सांसारिक नाता सब झूठा और स्वार्थका है, यह लक्ष्य में रखने से तुम्हारी आत्मा पापसे डरती रहेगी और धार्मिक भावना बनी रहेगी।

इस प्रकार कुटुंबीजनों को समझाकर उनका मोह छुड़ाकर वह शुद्धात्मा संथारा संलेखना करे जिसकी विधि-

सब से प्रथम जहां संथारा करना है उस स्थान का पूंजन प्रति लेखन करके बाद शरीर चिन्ता लघु नीति बड़ी नीति या शरीर के अन्य पदार्थ परठना पड़े तो उस भूमि काभी पूंजन प्रतिलेखन कर लेना चाहिये। बाद डाभादिका संथारा (घास बिछाकर) उस पर बैठके सब से पहले क्षेत्र विशुद्धि के लिये चउविसत्थव करना जिस में सब से प्रथम इच्छाकारेण का पाठ बोलकर तस्स उत्तरी का पाठ कहना, फिर इरियावही की पाटीका कायोत्सर्ग करना, बाद लोगस्स कह कर नमोत्थूणं के पाठ से सब से प्रथम सिद्ध भगवन्तको पश्चात् अरिहन्त भगवानको फिर अपने धर्माचार्यजी को व साधु साध्वियों को नमस्कार करके सब श्रावक श्राविकाओं से क्षमा मांगकर पूर्वकाल

के जो २ शल्य हो, शंका हो, दूषण सेवन किया हो, या वैर विरोध हो, उन सबको दूर करके सर्वथा प्रकार हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रह आदि अठारह ही पापों का व चौवीहार (तिविहार) आहारका त्याग कर शरीरकी साल संभाल शुश्रूषा का त्याग करके कालकी अपेक्षा न करते समाधि भाव में रहे। फिर आत्माको समाधि भाव में कायम रखने के लिये इन ग्रन्थों का वांचन मनन या श्रवण करे।

स्वर्गीय पं० सदासुखजी कृत—

मृत्यु महोत्सव

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य, वीतरागोददातुमें ॥
समाधिबोधपाथेयं, यावन्मुक्ति पुरांपुरः ॥ १ ॥

अर्थ-मृत्यु के मार्ग में प्रवर्तते हुए मुझे हेवीतिराग प्रभो' ऐसा समाधि रूप बोध का भाथा दीजिये जिसकी सहयाता से मैं मुक्तिपुरी को जाय पहूंचूं ॥ १ ॥

भावार्थ—संसारी जीव अनादि काल से जन्म मरण के चक्कर में पड़े हुए महान् संक्लेश पारहे है परन्तु सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हुए विना भव भ्रमण मिट नहीं सकता। ऐसा विचार करके कोई २ भव्यात्मा जन्म मरण के दुःख से घबरा कर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हेप्रभो! मैंने जन्म लेकर मरणतो अनन्ती बार किये परन्तु ऐसा समाधि युक्त संक्लेष रहित मरण नहीं किया जिससे भविष्य में जन्म मरण की सन्तातिका उच्छेद ही होजाय।

में अनादि काल से मिथ्यात्व मोहनीय के वश पड़ा हुआ देह के नाश को ही अपना नाश मान कर महान् संक्लेष युक्त हाय २ करता हुआ मरा, परन्तु अब मुझे सद्गुरु की कृपा से मिथ्यात्व मोहनीय का जोर हठकर यह भान हुवा है कि देह के नाश के साथ ही मेरा नाश नहीं होता मैं सद्चिदानन्द शाश्वत और अविनाशी हूं।

देहका नाश होते हुएभी मेरे ज्ञान दर्शनादि गुण कायम रहे, किन्तु विषय कषायों के द्वारा इन आत्मिक गुणोंका नाश न हो, वही सम्यक् मरण है। इस लिये हे वीतराग प्रभो ? मुझे ऐसा सम्यक् बोध रूप, शान्ति भावका पाथेय (भाथा) प्रदान करो जिससे मैं इस प्रकार के सम्यक् मरण द्वारा मुक्ति पुरीको प्राप्त करूं। आप जन्म मरण रहित होगये हैं इसी कारण मैं आपही का शरण ग्रहण करता हूं।

अब मैं अपने ही आत्मा को समझाता हूं।

कृमिजाल सताकीर्णे, जर्जरे देह पञ्जरे
भज्यमानेन भेतव्यं, यत स्त्वं ज्ञान विग्रह ॥ २॥

अर्थ—हे आत्मन! सेंकड़ों कृमिओं (कीड़ो) की जाल से आकीर्ण (भरा हुवा) और जर्जरित इस देह रूपी पिञ्जरे को नष्ट होता देखकर तू जराभी भय मत कर

क्योंकि इसके नाश होते हुए भी तेरा ज्ञानरूपी शरीर तो क़ायम ही रहता है।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप तो ज्ञानमयी है जो अमूर्तिक, ज्योतिस्वरूप, अखण्ड और अविनाशी है, ज्ञाता दृष्टा है और यह शरीर हाड, मांस, रूधिर एवं चर्म मय महा दुर्गन्ध वाला अपवित्र पदार्थों का पिण्ड है सो विनाशी है, तेरे स्वरूप से भिन्न स्वभाव वाला है किन्तु कर्म के संयोग से एक क्षेत्र में अवगाहन करके एकमेक होरहा है सो समय पाकर अवश्य ही बिखर जावेगा अतः देह का विनाश होता देखकर भय किसबात का करता है ॥ २ ॥

ज्ञानिन् भयं भवेत्कस्मात्, प्राप्ते मृत्यु महोत्सवे।
स्वरूपस्थ पुरंयान्ति, देही देहान्तर स्थिति ॥३॥

अर्थ—ज्ञानी लोग कहते हैं कि मृत्युरूपी महोत्सव के प्राप्त होने पर भय किस बात का है, क्यों कि इस मृत्युरूपी मित्र की सहायता से ही आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ अन्य देह में जाकर निवास कर लेता है ॥३॥

भावार्थ—किसी को जीर्ण कुटी में से निकलकर नवीन भव्य महल में रहने का अवसर प्राप्त होता है, तब उस समय को वह बड़ा ही हर्ष सूचक एवं महोत्सव रूप मानता

है परन्तु जराभी खेद नहीं करता है। इसी तरह ज्ञानीजन कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि आत्म तत्व दृष्टाभी अपने मृत्यु के अवसर को पाकर ऐसा मानता है कि अब यह जीर्ण शीर्ण अशुची पुद्गलों का भंडार स्वरूप औदारिक शरीर छूटकर नवीन, दिव्य मल-धातुओं करके रहित एवं शुभ पुद्गलों से परिणित वैक्रिय शरीर प्राप्त होने का समय आया है। अतः मैं इस मृत्यु को देखकर भय किस बात का करूं, अगर मैं भय शोक करके मृत्यु को बिगाड़ दूंगा तो फिर ऐसा सुअवसर मुझे बहुत काल से भी मिलना कठिन है, वास्ते मुझे इस अवसर पर भय न खाकर महोत्सव मनाना चाहिये ॥ ३ ॥

सुदत्तं प्राप्यतेयस्मात्, दृश्यते पूर्व सत्तमैः ॥
भुज्यतेस्वर्भवं सौख्यं, मृत्यु भीतिः कुतःसताम् ॥४॥

अर्थ–गणधरादि–पूर्व काल में हुए–महात्माओं ने दिखलाया है कि भूत काल में उपार्जन किये हुए सुकृत्यों का फल जिस मृत्यु के प्रताप से प्राप्त होता है, उस मृत्यु रूपी मित्र की प्राप्ति के समय भय किस बात का ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे चेतन्य तेने छहों काय जीवोंको अभय दान दिया, सत्य का सेवन किया, अन्याय पूर्वक प्राप्त होने वाले धन तथा स्त्री संग (पर स्त्री गमन) का त्याग करके

सन्तोष वृत्ति को धारण की है और अनेक प्रकार के दान पुण्यादि सुकृत किये है, उसका फल स्वर्गलोक सिवाय कहां होसकता है। उस स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाला यह मृत्यु नामक मित्र ही है, जिसकी कृपा से यह हाड मांस के पिण्ड स्वरूप देह छुटकर दिव्य वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है। अतः किये हुए सुकृत्यों के फल की प्राप्ति के समय तुझे परम आनन्द का अनुभव करना चाहिये किन्तु किसी प्रकार हाय विलाप करके विषय कषायवश आत्म समाधि का भंग हो ऐसा करना तुझे उचित नहीं है ॥ ४ ॥

आगर्भाद्दुःखसंतप्तः, प्रक्षिप्तो देह पिञ्जरे ।
आत्माविमुच्यतेन्येन, मृत्यु भूमि पतिं विना ॥ ५ ॥

हे आत्मन् ! नाम कर्म वैरीने तुझे इस उदारिक रूप पिंजरे में डाल दिया है जिस कारण गर्भ में आया तब से ही क्षण २ में क्षुधा तृषा रोग वियोग आदि दुःखों में पीड़ा पा रहा है इसे मृत्यु रूपी राज के सिवाय कोई छुडा नहीं सकता ॥ ५ ॥

भावार्थ—इन नाम कर्म रूपी शत्रु ने तुझे इस औदारिक देह रूपी पिंजरे में बन्द करके इन्द्रियों के आधीन बनाकर नित्य क्षुधा तृषा, शीत तप, रोग शोक—वियोग

आदि अनेक प्रकार से दुःख उपजा रहा है । सदा श्वासोच्छ्वास भीतर लेना और बाहर छोड़ना, अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ा पाना, उदरपूर्ति के लिये विविध प्रकार की पराधीनता भोगना सेवावाणिज्यकृषि आदि कार्यों में पीडा पाना, दुष्टों द्वारा ताड़न तर्जन कु वचनादि अपमान सहना और धन के कुटुम्ब के राजादि के आश्रित होकर रहना, ऐसे बन्दी ग्रह समान इस देह पिञ्जरे में पड़ा हुवा यातनाएं भोग रहा हूं इस कष्ट से मृत्यु रूपी बलवान राजा के विना कौन छुड़ा सकता है अतः मुझे मृत्यु रूपी राजा का स्वागत करना चाहिये ॥ ५ ॥

सर्वदुरकप्रदंपिण्ठ, दुरिकृत्यात्मदार्शिभिः ।
मृत्युमित्रप्रसादेन, प्राप्यन्तेसुखसम्पदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—सर्व दुखों को देने वाले पिण्ड (शरीर) से मृत्यु नामक मित्र के प्रसाद से ही छुटकर आत्म दर्शी सच्चे सुखों की प्राप्ति कर सकता है अन्यथा नहीं इसलिये मृत्यु का अवसर प्राप्त होते ही तत्ववेत्ता पुरूष हैं वे सावधान होकर दुख से छुटने का प्रयत्न करते हैं ।

भावार्थ—सम्यक द्रष्टि आत्मतत्ववेत्ता पुरुष है, वेयों विचारते है कि यह प्रत्यक्ष दुर्गन्धमयी सप्त धातुओं से बना हुवा पिण्ड जिसके अन्दर अज्ञानी जीव अनेक प्रकार

के दुख और क्लेष पाते हुए भी इसपर अधिकाधिक ममत्व करके अकाम मरण मरकर नर्क तिर्यंचादि गति को प्राप्त होजाते हैं जहां असंख्यात और अनन्त जन्म मरण करते हुए महान् दुख भोगने हैं फिर भी दुखों का अन्त सहज नहीं आता इसलिये मुझे उचितहै कि मैं अब अज्ञानता का त्याग करके जो सुवर्ण समय प्राप्त हुवा है उसका लाभ लेकर समाधि मरण मरूंगा तो मुझे यह क्लेश न भोगना पड़ेगा अपितु समाधि सहित शुद्ध परिणामों के द्वारा या तो इसी भव से मुक्ति प्राप्त कर सकूंगा ताकि बारंबार ऐसे दुख न उठाना पड़े या सर्व कर्मों का क्षय नहीं हुआ तो दिव्यवैक्रिय शरीर धारण कर दिव्य सुखों का उपभोग करूंगा अतः मृत्यु को दुःख दाता नहीं किन्तु सुखदाता मित्र ही क्यों न मानूं ॥ ६ ॥

मृत्यु कल्पद्रूमे प्राप्ते, येनात्मार्थो न साधितः ॥
निमग्नोजन्मजंबाले, सपश्चात्किं करिष्यति ॥ ७ ॥

अर्थ—मृत्यु रूपी कल्पवृक्ष के प्राप्त होने परभी जो आत्म हित नही साधता वह संसार रूपी कर्दम में खूंचाहुआ पिछे क्या करेगा ॥ ७ ॥

भावार्थ—विवेकी अपने आत्मा को सम्बोधन करके विचारता है कि हे आत्मन् ! मृत्यु साक्षात् कल्पवृक्ष है,

कल्पवृक्षके प्राप्त होने पर सम्यक् ज्ञान सहित संयम मार्ग में प्रवृत्ति करता हुआ अपने निज स्वभाव को ग्रहण करके समस्त कुटुम्ब एवं परिग्रहादि से ममत्व हटाकर पंडित मरण किया तो स्वर्ग का महर्द्धिकदेव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि पद प्राप्त करके परम्परा में तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि पद पाकर निर्वाण सुख को प्राप्त करता है। इसलिये मरण के समान त्रिलोक म कोई सुखदाता नहीं है। ऐसे दाता को पाकर भी यदि विषयों की वाञ्छा एवं कषाय सहित रहगया तो इसके फल स्वरूप नर्क निगोद में भ्रमण करना पड़ेगा वास्ते इस सुअवसर को मोह ममत्व करके बिगड़ने मतदे और अपने आत्मा को समाधि में स्थापित करके इस कल्पवृक्ष से अपना उत्थान कर ॥ ७ ॥

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतनंजायते यतः ॥
समृत्युः किं न मोदाय, सतांसातोत्थितिर्यथा ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस मृत्यु के कारण जीर्ण बना हुवा देह छुटकर नवीन विशुद्ध देह के रूप में परिणत हो जाता है, क्या वह मृत्यु आनन्द दायक नहीं है ? सम्यक् दृष्टि मनुष्य तो इसे शाता का उदय मानते हैं।

भावार्थ— जो मनुष्य और अ.न्य. २ पर जा.ो ग्रांणी

होता जाकर प्रति दिन बल घटाता है, क्रांति को मलीन करता है, समस्त हड्डी एवं नशों के बंधन ढीले पड़ते जारहे हैं, चमड़ी भी शिथिल होती जाती है, झुर्रीयें पड़ती जाती है, लोही एवं मांस सुख कर नेत्रों का तेज घटजाता है। कान में श्रवण करने की शक्ति क्षीण होजाती है, हस्तपादादि अवयवों में असमर्थता बढती जाती है, गमन शक्ति रूक जाती है। चलते उठते बैठते श्वांस बढ जाता है और कफ अधिक गिरने लगता है। ऐसे जीर्ण देह को कहांतक घसीटते रहना। कहांतक दुःख और क्लेश उठाते रहना यह दुःख बिगैर मृत्यु नामक मित्र की सहायता के बिना छूट नहीं सकता। अतः सम्यक् ज्ञानी पुरुष हैं वे मृत्यु का संयम प्राप्त हुआ जानकर किञ्चित भी खेद नहीं करते अपितु इस अवसर को आमोद प्रमोद का मानते हैं और तप संयम त्याग शील व्रतादिक में सावधान होकर हर्षानु-भव करते हैं जिससे ऐसे दुःख भरे देह को बार २ धारन नहीं करना पड़े और शाश्वत सुख का भोक्ता बने ॥८॥

सुखं दुक्खं सदावेत्ति, देहस्थश्चस्वयंव्रजेत् ॥
मृत्युभीतिस्तदाकस्य, जायते परमार्थतः ॥ ९ ॥

अर्थ—यह आत्मा देह के अन्दर रहा हुआ सुख और दुख को सदा काल जानता है और परलोक प्रति

शमन भी स्वयं ही करता हैं, फिर मृत्यु का भय किसको हो सकता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अज्ञानी वहिरात्मा है सो तो देह में रहते हुए यों मानता है कि मैं दुखी हूँ. मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, मैं मरता हूँ, मेरा नाश हुवा या होता है। ऐसा करके मृत्यु के समय भय पाता है। और अन्तरात्मा सम्यक् द्रष्टि है वह यों मानता है कि जो जन्मा है वह अवश्य ही मरेगा। पृथ्वी, प्राणी, अग्नि, वायु आदि पुद्गल परमाणुओंका जो पिण्ड उत्पन्न हुआ वह अवश्य ही विनाश को प्राप्त होगा, मैं सच्चिदानन्द अमूर्तिक, ज्ञानमय अविनाशी आत्मा हूँ, मेरा नाश तो कभी होगा ही नहीं मै तो त्रिकाल अखण्ड और अबाधित हूँ। क्षुधा-तृषा कफ वात पित्त रोगादि वेदना, पुद्गल जनित है। मैं तो इनका ज्ञाता द्रष्टा हूँ, मैं क्यों अहंकार ममकार करूं। कर्मोदय से इस शरीर के और मेरे एक क्षेत्र को अवगाहकर रहने रूप जो सम्बन्ध है सो शाश्वत नहीं है।

मैं अविनाशी और देह विनाशी है, इस लिये इसके छूटते समय भय किसका करूं। इसपर ममत्व करना अज्ञान एवं मिथ्यात्व है। मुझे ज्ञाता द्रष्टा बनकर इस देह के छूटते समय किसी का भय नहीं खाना चाहिये।

किन्तु वस्तु स्वभाव का विचार करके शान्ति ही धारण करना चाहिये ॥ ९ ॥

संसारा शक्त चित्तानां, मृत्युर्भीत्ये भवे नृणाम् ॥
मोदायतेपुनःसोपि, ज्ञान वैराग्य वासनाम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिनका चित्त संसार में आसक्त है, अर्थात जो अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते हैं उन्हें ही मृत्यु का भय होता है किन्तु जो ज्ञान और वैराग्य में वसते हैं वे मृत्यु को पाकर प्रसन्न होते है ॥१०॥

भावार्थ—मिथ्या दर्शन के उदय से जिसका चित्त संसार के भोगोपभोग में खुचा हुवा है, देह में ही आपा मान रखा है, खानपान काम भोगादिक इन्द्रिय के विषयों को ही सुख मान रखा है, वह बहिरात्मा अपना मरण काल निकट जानकर बड़ा भय पाता है और सोचता है, हाय ! अब तो मेरा नाश हुवा मेरे पिछे क्या होगा ? मैं कैसे मरूंगा ? अब ये खानपान ये एश आराम कहां मिलेगा ! मैं कहां चला जाऊंगा, यह सब कहां रह जायगा ? मैं किसकी शरण लेऊं ? कहां भागुं इत्यादि क्लेश पाता हुआ अकाममरण मरता है। परन्तु जो आत्मज्ञानी है वह अपना मृत्यु सन्निकट आया देखकर ऐसा विचार करता है कि मैं इस देहरूपी बन्दी खाने में पड़ा हुआ पराधीन हो

रहा हूं अनेक कष्ट पारहा हूं। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि यातनाएं सहन कर रहा हूं। इस दुःख से छुडाने वाला और शास्वत सुख का दाता यह मरण ही है सो मैं शान्ति धारण करके परम समाधि प्राप्त करता हुआ ही मरण की शरण क्यों न प्राप्त करूं ॥ १० ॥

पुराधिशो यदायाति, सुकृतस्यबुभुत्सया।
तदासौवार्यतेकेन, प्रपंचे पंच भौतिके ॥११॥

अर्थ—जब राजा अपने पूर्व पुण्योदय का उपभोग करने के लिये कहीं जाता हो उस समय पंचभूत द्वारा रचित प्रपंच से उसे कैसे रोका जाय ? ॥११॥

भावार्थ—यह आत्मरूपी राजा अपने पूर्व के सुकृत्यों के फल का उपभोग करने के लिये इस भवका आयु पूर्ण होजाने पर और परलोक सम्बन्धी आयु आदि छः बोलों के किये हुए बन्ध का काल उदय होने पर जब इस अशुचि के भंडार रूप जीर्ण देह को त्यागकर नवीन वैक्रिय शरीर धारण करता है तब परलोक जाते हुए आत्मा को यह पंचभूत का पुतला कैसे रोक सकता है। अर्थात् नहीं रोक सकता है, फिर इस देह के नष्ट होते चिन्ता का कारण ही क्या ॥११॥

मृत्यु काले सदा दुःकर्मं, यद्भवेत् व्याधि संभवम्।
देह मोह विनाशाय, मन्येशिवसुखायच ॥१२॥

अर्थ—मृत्यु के समय जो दुःख और व्याधि उत्पन्न होती है, वह सत्पुरुषों को देह परसे मोह हटाने के लिये ही होती है और परम्परा में वही मोह का नाश एवं निर्वाण प्राप्ति का कारण बन जाता है ॥१२॥

भावार्थ—आत्मा जबसे मनुष्य जन्म धारण करता है तभी से वह इस देह के प्रति अपना ममत्व धारण करके इसी में तन्मय हुआ बड़ा सुख मानता है। देह को ही अपना निवास स्थान जानकर—इस पर ममत्व करता है। हर प्रकार इसकी हिफाजत करता है, परन्तु हिफाजत करते र भी जब इस देह में रोग पीड़ादि प्रकट होजाते है तब देह की यह कृतघ्नता देखकर सत्पुरुषों का व्यामोह नष्ट होजाता है। और वे इस देह की अस्थिरता जानकर इसे विनाशी एवं दुक्ख दाता मानते है, और आत्मा का अविनाशीपन का अनुभव करके वीतराग जैसे बन जाते है, फिर ऐसा विचारते है कि इस देह का ममत्व करके मैने अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण किया, व नरकादिकी यातनाएं सहन की है। इतने दिन तक इस देह को ही मेरा स्वरूप मानकर क्रूर कर्मों का संचय कर रहा था। किन्तु ज्वर खांसी श्वास-शूल-वात पित कफ अतिसार व मन्दाग्नि आदि रोगों ने मुझे सावधान किया है सो अब इनको उपकारी मानकर देह पर से ममत्व घटाकर

मेरी आत्म ज्योति प्रकट करूं। और ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना में लगजाऊं, जिससे परम्परा में मुझे शिव सुख की प्राप्ति हो ॥ १२ ॥

ज्ञानी नोऽमृतसंगाय, मृत्युस्तापकरोपिमन् ॥
आमकुंभस्यलोकेस्मिन्, भवत्पाक विधिर्यथा ॥१३॥

अर्थः-यद्यपि इस संसार में अज्ञानि जनों को मृत्यु सन्ताप दायक होता है वे अपनी मृत्यु सन्निकट देखकर भय पाते है किन्तु सम्यक ज्ञानी जन मृत्यु के प्रसंग को अमृत का संयोग मानते है। वे विचारते है कि यह मृत्यु नामक मित्रही मुझे इन दुखों से छुड़ाकर निर्वाण की प्राप्ति कराने वाला है। जैसे कच्चे घड़े का अग्नि में पकना जल रूपी अमृत को धारण करने की योग्यता वाला बना देता है ॥ १३ ॥

भावार्थ-अज्ञानी लोग मृत्यु के नाम से ही त्रास पाते है कि अरे अबतो चला, मरा। ये मेरे सब कुटुम्ब परिवार हाट, हवेली, स्त्री, पुत्र, दास, दासी, हाथी, घोड़े आदि यही छुट जावेंगे जिनके संग्रह एवं संचय करने के लिये मैंने बहुत दुख उठाये है कष्ट सहे है वे सब यहीं पड़े रह जावेंगे, अब क्या करूं किसका शरण लेऊं, किधर भागकर प्राण बचाऊं! किसे पुकारू इत्यादि विलाप करता है, किन्तु सम्यक्ज्ञानी मृत्यु का समय सन्निकट आया देखकर

विचारते है कि आयु कर्म के उदय मान होने पर मैंने जो देह धारण की है वह अपना स्थिती काल पूर्ण होने पर अवश्य ही छुटने वाली है और मैं तो अविनाशी स्वभाव वाला ज्ञान मयी आत्म द्रव्य हुं। मैं इस शरीरके छुटते सोच करूं ही क्यों ? यह शरीर छुटेगा तो दूसरा दिव्य वैक्रिय शरीर मिलेगा। देवलोक में रहकर पूर्वोपार्जित सुकृत्यों का फल भोगूंगा और भविष्य में कर्म रहित होकर शिव सुख का भोक्ता बनुंगा। अतः मृत्यु से मुझे भय खानेकी जरूरत नहीं है। मुझे इस प्राप्त सुअवशर को ऐसा बनालेना चाहिये और ऐसा समाधि भाव में तल्लीन होजाना चाहिये जो अनन्त काल तक स्थिर रहकर निजगुण में परिणत होजाय यह दशा विगेर मृत्यु का ताप सहे प्राप्त होना कठिन है ॥ १३ ॥

यत्फलं प्राप्यतेसद्भि, र्व्रतायसविडम्बनात् ॥
तत्फलं सुखंसाध्यंस्यात्, मृत्युकालेसमाधिना ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस करणीका फल स्वर्गमें इन्द्रादि देव होकर प्राप्त किया जाता है वह इस मृत्यु के समय थोड़े कालतक समाधि धारण करने से ही मिलता है और यही उपाय सुखसाध्य है इसके सिवाय दुसरा कोई उपाय सुख साध्य नहीं है ॥ १४ ॥

भावार्थ—स्वर्ग में इंद्रादि की दिव्य रिद्धि तथा परंपरा में निर्वाणपद की प्राप्ति जिस २ संयम (पंचमहाव्रतादि) और तप के द्वारा होती है वह मृत्यु के समय आत्मा में समाधि भाव धारण करके देह तथा परिग्रहादिक का भय त्याग कर चारों आराध्यपदों शरण ग्रहण करने से तथा कायरता त्याग अपने ज्ञायक स्वभाव का अवलम्बन लेता हुवा मृत्यु प्राप्त करें तो सहज ही में सिद्ध परमात्मा अथवा देवलोकों में इंद्रादि महर्दिक देव होता है। वहां से च्यवकर बड़े उत्तम स्थान में उत्पन्न होता जहां खित्तवत्थू आदि दस बोलों की सामग्री पावे। फिर वहां भी उसका त्याग कर दीक्षा धारण करके अपने रत्नत्रयी की पूर्णता प्राप्त कर निर्वाण पद पाता है॥ १४॥

अनार्तःशान्ति मान्मृत्योः, नतिर्यक्नापिनारकः॥
धर्मध्यानिपुरोमृत्योः, नस्निस्त्र मरेश्वरः॥ १५॥

अर्थ—जिसके मरण समय में आर्त अर्थात् दुरका नुभवरूप परिणाम नहीं होते है. किन्तु राग द्वेष रहित शान्ति भाव रूप चित्त की समाधि को प्राप्त करके मरण करता है। उसको नर्क तिर्यच गति की प्राप्ति नहीं होती अपितु धर्म ध्यान सहित अनशन धारण करके जो मरता है वह स्वर्गलोक में इन्द्र तथा अहमेन्द्रादि पर्यायों को प्राप्त करता है॥ १५॥

भावार्थ--सम्यक् द्रष्टि अपने आत्मा को बोध देता देता है कि हे आत्मन् ! मरना तो तुझे अवश्यम्भावी है जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मरेगा, परन्तु यही मरण राग द्वेष रहित, समाधि सहित, धर्म ध्यान पूर्वक अनशन धारण करके करेगा तो तुझे नर्क तिर्यंचादि गतियों में जाकर दुःख न देखना पड़ेगा, किन्तु समाधि मरण से स्वर्ग में देवों का स्वामी इन्द्र तथा अहमिन्द्र होकर महान् सुखों का भोक्ता बनेगा, और शीघ्र ही निकट भविष्य में सब दुखों का अन्त करने वाली सिद्ध गति को प्राप्त करेगा ॥ १५ ॥

तप्तस्यच तपश्चापि, पालितस्यव्रतस्यच ॥
पठितस्य श्रूतस्यापि, फलं मृत्यु समाधिनाम् ॥१६॥

अर्थ--तपस्या करके तपने का, व्रतों को धारण करने व पालने का, तथा श्रूत के पठन पाठन का फल यही है कि आत्मा को समाधि युक्त मरण होगा ॥१६॥

भावार्थ--हे आत्मन् तेने इतने काल तक इंद्रियों के विषयों का दमन करके अनशनादि तप किया है, समस्त हिंसा झूंठ चौरी मैथून और परिग्रह का त्याग करके तथा मन वचन काया से आरम्भादि छोड़कर समस्त शत्रु मित्र पर समभाव धारण करने रूप जो संयम का सेवन

किया है. एवं सूत्र ज्ञान का पठन पाठन आत्म समाधि हेतू किया है सो मरण के अवसर आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होकर समाधि भाव में रमण करने के लिये ही यदि मरण के अवसर में आत्मा समाधि भाव में न रहा और कायरता धारण की तो यह सब निरर्थक हो जावेगा अतः इस मरण के अवसर में सावधानी छोड़कर समाधि का भंग होने देना कदापि उचित नहीं है ॥१६॥

अति परिचित्तेष्वज्ञान्नवेद्, प्रीति रिति हीजनवाद्
चिरतर शरीरनाशेन, वतरालाभेच्चकिंभीरूः ॥ १७ ॥

अर्थ—लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जिस वस्तु का अति परिचय (अति सेवन) होजाता है, उसके विषय में अवज्ञा होजाती है। अनादर बुद्धि होकर रूची घट जाती है इसी तरह यह देह (शरीर) भी बहुत काल तक परिचय में आने के कारण अब प्रीति पात्र नहीं रहा, तब इस शरीर का नाश होकर नवीन दिव्य शरीर का लाभ होने के समय भय किस बात का अर्थात् इस समय तुझे भय चिन्ताकरना उचित नहीं है।

भावार्थ—जिस शरीर का लालन पालन करते हुए साल संभाल करते हुए बहुत काल होजाता है, तब उससे रूची का हटना स्वाभाविक है और यह शरीर भी

इसके स्वभावानुसार जीर्ण शीर्ण होगया है इस हालत में इसके विनाश होने में भय किस बात का ? यहतो अपने स्वाभावानुसार विनाश को प्राप्त होगाही फिर इस से ममत्व करके दुर्गति में जाने योग्य कर्म का बन्धन क्यों करूं ? मैं पहलेही इससे ही ममत्व त्यागकर समाधि भाव को क्यों न अपनालुं ॥ १७ ॥

स्वर्गा देत्य पवित्र निर्मल कुले सस्मर्यमाणाजनै ।
दत्वा भक्ति विधायिनां बहुविध वाञ्छानुरूपं फलम् ॥
भुक्त्वा भोग महर्निशं परकृतं स्थित्वाक्षणं मंडले ।
पात्रावेश विसर्जना मिवमृर्ति सन्तोलभन्ते स्वतः॥१८॥

अर्थ—उपरोक्त प्रकार से भय रहित और समाधिस हित मरण मरता है उसको स्वर्गादि उत्तम गति होती है । वहां से निकलकर उत्तम कुल में जन्म लेकर नाना प्रकार की ऋद्धि पायकर भोगोपभोग कर के संयमादिसहित वीतरागी बन अपने स्वस्वरूप में तल्लीन हो जाता है । जैसे नृत्यकार अखाड़े में आकर लोगों को आनन्द का अनुभव कराके निकल जाता है इसी तरह वह भव्यात्मा भी संसारको छोड़ शास्वत स्थानको प्राप्त करलेता है ॥१८॥

भावार्थ—सम्यक् द्रष्टि आत्मा अपने मरण का अवसर प्राप्त हुआ जानकर सब प्रकार के भय चिन्ता को छोड़कर समाधिभाव को धारण कर लेता है और पंडित

मरण मरके स्वर्गादि में जाकर सागरोपमा तक महा उत्कृष्ट सुखों का उपभोग करके पीछा मनुष्य लोक में मेरे भंडारों पर जन्म धारण कर उत्तम प्रकार के सुखोपभोग करता हुआ उन्हें भी अनित्य जाण दीक्षा भगवती को को अपनाय घाति कर्मों का क्षय करके शाश्वत सिद्धि गति को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह नृत्य करने वाला पुरुष अखाड़े में आकर अनेक प्रकार के अभिनय द्वारा सकल निरिक्षक लोगों को आनन्द देता हुआ वहां से निकल जाता है। वैसे ही सत् पुरुष अपनी लीला समेट कर यहां से निकल लोकाग्र के उपर जा विराजता है, जहां अनन्त काल तक "साइए अपज्जवसिए" भांगे से सदा काल तिष्टता है ॥ १८ ॥

दोहा-मृत्यु महोत्सव वचनिका, लिखि सिदा शुभ काम ॥
शुभ आराधन मरण की, पाऊं निज सुख धाम ॥१॥
१९४७ उन्नीसो सैंतालिस में, द्वितिय भाद्रव मास ॥
सुद पांचम गुरूवासरे, वांचो मन उल्लास ॥२॥

—॥ शुभम् ॥—

समाधि मरण की २८ भावना

भवात्मा सम्यक् द्रष्टि पुरूष अपनी आत्मा को समझा कर प्रशान्त बनात बनाने के लिये विचारता है कि—

१ अहो ! देखो. इस पुद्गल पर्याय का स्वरूप कैसा विचित्र है. जो अनन्त परमाणु इकठे होकर यह शरीर बना है, बढा है और देखते ही देखते विरलाने लगा है। कैसा विचित्र स्वभाव है।

२ जिनेन्द्र प्रभो ! आपके वचन सत्य एवं तथ्य है कि—" अधूवे अशासयंमि " यह शरीर अध्रुव (अस्थिर) एवं अशास्वता (अनित्य है) इतने दिन इसकी पर्याय का पलटा होता था. उसका मै पूर्ण पणे ज्ञान नही रखता था। किन्तु अब शरीर की यह स्थिती देखकर आपके वचनों का पूर्ण पणे ज्ञान हुवा है कि वास्तव में शरीर अध्रूव और अशास्वत है। इसपर ममत्व करना उचित नहीं।

३ जैसे अनेक मनुष्य मिलने (एकत्रित होने) से मेला (बाजार) होता है और कइ दिन तक रहकर विखर जाता है तब वह शुन्यारण्य हो जाता है वैसे ही यह संसार रूप मेला अनेक परमाणुओं के संयोग से हुआ और स्थिति पूर्ण होने पर विखर ने लगा है इसमें मेरा क्या नुकशान है कारण मैं पुद्गल मय नहीं हूं मैं तो इस तमाशे को देखने वाला तमास गिर हूं।

४ इस संसार में सभी पदार्थ अपने २ स्वभावानुसार मिलते और विखरते हैं, जैसे आकाश में बादलों का समूह इनका कर्ता हर्ता कोई नहीं है। इसी तरह यह शरीर मेरे रखने से रहता नहीं और विखेरने से विखरता नहीं तब मैं इसका वियोग होते समय चिन्ता क्यों करूं ? जो होना होगा सो होगा।

५ मैं (चैतन्य) एक ज्ञायक स्वभावमय हूं। उसीका कर्ता, भोक्ता और अनुभवता हूँ, सो ज्ञायक स्वभाव तो अविनाशी है उसका किसी भी तरह विनाश नहीं होता त्रिकाल में अबाधित है फिर यह शरीर रहा तो क्या और गया तो क्या रहते और जाते मेरा स्वभाव एकसा है और एकसा रहेगा तब शरीर का विनाश होता देख चिन्ता किस बात की करूं ?

६ हे जिनेन्द्र प्रभो ! इतने दिन मैं जानता था, कि यह शरीर मेरा है इसलिये इसको खिलाना पिलाना, शीत ताप से बचाना, साल संभाल करना, इत्यादि हर प्रकार इसकी हिफाजत करता था, किन्तु अब मुझे सत्य २ भान हुवा कि यह शरीर न तो किसी का हुवा और न किसी का होगा, जो मेरा होता तो मेरे हुक्म में क्यों नहीं चलता, प्रत्यक्ष में रोग, जरा और मृत्यु को प्राप्त क्यों होता है इस लिये इससे ममत्व हटा।

७ अरे भोले प्राणी ! तेरे इस शरीर को माता पिता पुत्र बनावे, भ्राता भगनि 'भ्रातृ बनावें' पुत्र पुत्री 'तात बनावें' स्त्री 'भर्तार' बनावें और तूं तेरा माने सो यह एक शरीर इतने का कैसे होवे ? जो होवे तो इसका विनाश होते हुवे क्यो न रख लेवे ! इसलिये शरीर और कुटुम्ब कोई भी तेरा नहीं है। और तू किसी का भी नहीं है। तूं सबसे भिन्न चिदात्मक पदार्थ है।

८ यह सम्पत्ति तो जैसे इन्द्रजाल की माया, बादल की छाया, स्वप्न का राज्य, दुर्जन का काज अस्थिर है वैसे ही क्षण भंगुर है अध्रुव और अशाश्वती है फिर तूं क्यों इसके ऊपर मोह ममत्व करता है और रात दिन अनेक प्रकार के कष्ट उठाकर तथा राग द्वेष करके क्यों

नवीन कर्मों का बन्ध करता है। कृत कर्म विगेर उसका फल भुगते छूट नहीं सकता। अतः सन्तोष धार कर ममत्व घटा यही समझ का सार है।

९ हे आत्मन्! तूं इतना अवश्य जान कि जो जीवित है सो मरता नहीं और मरता है सो जीवता नहीं अर्थात् आत्मा अमर एवं अविनाशी है। और काया तो प्रत्यक्ष ही मुर्दा है। आत्माकी प्रेरणा बिना काया स्वयं कुछ नहीं करती, फिर काया का विनाश होते में सोच फिकर क्यों करूं? कारण काल तो जहां से जन्म हुवा (शरीर पैदा हुवा) वहां से ही इसका भक्षण कर रहा था और मैं आत्मा तो ऐसा का ऐसा ही हूं। मेरा (आत्मवस्थाका) मरण त्रिकाल में होता ही नहीं।

१० मैं चैतन्य आकाशवत् स्वच्छ एवं अरूपी पदार्थ हूं। अग्नि का, पानी का, शस्त्र का या अन्य मृत्यु देने वाले किसी भी पदार्थ का मेरे ऊपर किञ्चित भी जोर नहीं चल सकता। जैसे—मक्खी दौड़ २ कर मिश्री, गुड़ या ऐसे ही अन्य पदार्थों पर बैठती है किन्तु अग्नि पर नहीं। इसी तरह यह काल भी बार २ इस शरीर को ही ग्रसता है मुझे नहीं। मैं न तो पकड़ा जाऊं और न कोई से नाश पाऊं। मेरे में और आकाश में भी इतना फ़र्क है कि वह

अचैतन्य अमूर्ति है और मैं सचेतन्य अमूर्ति हूं इसलिये मैं आकाश से भी अधिक सत्वशाली हूं ।

११ जैसे किसी श्रीमन्त के पुत्र के दोनों खीसे में मेवा भरा रहता है सो वह जिधर हाथ डाले उधर ही मेवा हाथ में आवे, इसी तरह मेरे भी दोनों हाथ लड्डू है अर्थात् जीता रहूंगा तो व्रत नियम तप संयमादि शुभ उपयोग की आराधना करूंगा । और मरगया तो स्वर्ग मोक्ष के सुखों का उपभोग करूंगा । वहां से (स्वर्ग से) विदेहक्षेत्र में विद्यमान श्री सिमंधरादि तीर्थंकर भगवान के, अनेक केवली भगवान के तथा भावितात्मा तपोधनी मुनिराज एवं महासतियों के दर्शन करूंगा उनकी वह पतितपावनी संसारोद्धारनी वाणी (देशना) सुनूंगा, प्रश्नोत्तर करके निःशंय बनूंगा और तत्ववेत्ता होकर राग द्वेष के क्षय करने में समर्थ बनूंगा ।

१२ जैसे किसी के पहले रहने का घर (मकान) जूना पुराणा होकर गिरने जैसा होजाता है तब वह बहुत धन खर्च करके दूसरा मकान बना पाता है और वह तैयार होते ही अति हर्ष एवं प्रमोद के साथ उसमें प्रवेश करता व आनन्द से रहता है वैसे ही हे चैतन्य ! यह तेरा मनुष्य शरीर आधि (चिन्ता) व्याधि (रोग) और उपाधि (दुःख)

करके गल गया, शिथिल पड़गया, जरा और काल ने इसका सर्वस्व हरणकर इसे खोखला बना दिया है सो अब इससे ममत्व हटाकर तूंने पहले जो धर्म करणी की है इससे तुझे स्वर्ग में देवादिक उत्तम गति प्राप्त होकर महादिव्य, मनोहर इच्छित रूप बनाने वाला और विघ्न बाधा रहित सुख देने वाला वैक्रिय शरीर प्राप्त होगा। वास्ते इस अस्थि, मांस रक्त, केश आदि मलीन पदार्थों से भरे हुए क्षण भंगुर शरीर पर ममत्व क्यों करता है? जब कि झोंपड़ी छूटकर महल प्राप्ति का समय आन पहुंचा है।

१२ जैसे कोई व्यापारी शीत, ताप, क्षुधा, तृषा आदि अनेक दुःख सहन करके मालका संग्रह करता है और भाव आने की राह देखता है कि तेजी हो तो माल बेचकर नफा खरा करूं। ऐसी इच्छा करते जब मनमाना भाव आजाता है तब वह अति कष्ट से संचय किये हुए माल पर किञ्चित भी ममत्व नहीं करता है और शीघ्र लाभ कमाता है, वैसे ही तूंने भी अनेक शीत, ताप, क्षुधा, तृषादि कष्ट सहकर जो धर्म रूप माल संग्रह किया है सो अब काल रूप तेजी का भाव आया है और मृत्युरूपी मित्र तेरे मालके बदले में स्वर्ग मोक्षादि के इच्छित सुख देरहा है। अतः तूं अब इस बार दान रूप देह पर ममत्व करके अनन्त लाभ उपार्जन करले।

१४ हे आत्मन्! अपने किये हुए सुकृत्यों का फल तो मृत्यु ही देने वाला है। मृत्यु हुए बिना इस देह से तो स्वर्गादि में जाकर रह नहीं सकता। इस लिये मृत्यु तो मेरा मित्र है जो मुझ पर उपकार करता है और स्वर्गादि सुख देता है।

१५ कोई पर चक्री राजा किसी राजा को पकड़ कर पिंजरे में डाल देवे जहां खान पानादि के अनेक कष्ट उसे उठाने पड़ते हैं और वह पराधीन बन जाता है, उसका कुछ भी जोर नहीं चलता है उस समय इसकी खबर उसके किसी जबरदस्त राजा को पड़े और वह अपने मित्र राजा वैरी के तावे में से छुड़ाकर सुखी कर देता है उसी प्रकार कर्म रूप शत्रु ने मुझे इस देह रूपी पिंजरे में डालकर स्वासोच्छ्वास लेना, क्षुधा तृषा, ताडन तर्जन, रोग शोक शीत ताप दुःख पराधीनता इत्यादि बंदी (कैदी) जैसा बनाय रक्खा है, इसकष्ट एवं पराधीनता से छुड़ाने वाला यह मृत्यु नामक मित्र ही है जिसकी कृपा से मैं स्वतन्त्र सुखी बन सकूँगा।

१६ स्वर्ग एवं मोक्षादि सुख का देने वाला समाधि मरण के सिवाय संसार में कोई भी समर्थ नहीं है इसलिये यह अवसर मुझे चूकना नहीं चाहिये। मरण तो इस आत्मा ने अनन्ती बार किये है, परन्तु विषय कषाय के वश

होकर आशा तृष्णा सहित असमाधि मरण किये इसलें मेरी कोई गरज नहीं सरी उल्टा भव भ्रमण की सन्तति बढाकर चतुर्गति में गोते खाये । अब सद्गुरू की कृपा से मुझे वास्तविक ज्ञान हुवा है सो अब सावधान होकर वांछा तृष्णा रहित बनकर समाधि मरण की आराधना करूं ।

१७ जैसे भोग भूमि के मनुष्य (युगालिये) को कल्पवृक्ष इच्छित सुख की पूर्ति करता है उसके निचे जाकर इच्छा करने से उसकी इच्छा पूर्ति हो जाती है । इसी तरह मुझे भी अपनी इच्छा पूरने वाला कल्पवृक्ष मृत्यु का अवसर प्राप्त हुवा है सो अब इसकी छाया में बैठकर जो विषय कषायादिकी अशुभ इच्छा करूंगा तो नर्क तिर्यंचादि की अशुभ गति प्राप्त होगी और सम, समवेग, निर्वेद, त्याग, वैराग्य, व्रत, नियम, सत्य शील सन्तोष क्षमा आदि शुभ इच्छा करूंगा तो देवादिकी शुभ गति होकर मोक्ष सुख का अधिकारी बनूंगा ।

१८ औदारिक शरीर का यह स्वभाव है कि वह हाड मांस लोहू, राद, मल मूत्र आदि सप्त धातुओं से बना हुवा होने के कारण शीघ्र ही सड़ जाता, गलजाता, और अशुचि पदार्थों के संग्रह से खुद को ही घृणा उत्पन्न

करता है, एसी जर्जरित अपवित्र देह से छुडाकर दिव्य वैक्रिय शरीर यह समाधि मरण ही दें सकता है।

१९ जैसे मुनि महात्मा अनेक नय, उपनय, हेतु द्रष्टान्त एवं प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से शरीर का स्वरूप समझाकर इसपर से ममत्व दूर करता है तैसे ही मेरे शरीर में यह जो रोग पैदा हुवा है सो मेरेको प्रत्यक्ष प्रमाण देकर उपदेश कराते हैं कि हे चैतन्य ! तूं इस पिंड (शरीर) पर क्यों ममत्व करता है ? यह पिंड तेरा नहीं है यह तो मेरे स्वामी काल का भक्ष्य है। चाहे तूं कितना भी यत्न कर वह तो पाकर इसका भक्षण करेगा ही।

२० जहांतक इस शरीर में किसी प्रकार की व्याधि (पीड़ा) न हो वहांतक इसपर से ममत्व नहीं उतरता है। इतना ही नहीं विशेष रूप से ममत्व करके इसका पोषण करता रहता हूँ, परन्तु जब कोई रोग उत्पन्न होता है और उपचार करते हुएभी जब रोग शान्त नहीं होता है तब इसके असली स्वभाव का भान होकर स्वाभाविक ही प्रेम कम होजाता है। इस लिये मुनिराज से भी ज्यादा उपदेशक ममत्व छुड़ाने वाला उपकारी मेरे तो यह रोग हुवा है।

२१ रे आत्मन् ! इस रोग को देखकर जो तूं घबराता हो सचमुच ही रोग तुझे खराब लगता हो, इस दुःख से

फंटाल गया हो तो अब इन वाह्य औषधियों का सेवन करना छोड़! क्योंकि रोग है वह कर्माधीन है और औषधियों में कर्म को दूर करने की शक्ति नहीं। कदाचित् तेरा उपादान सुधरा हो, अशाता वेदनी का जोर कम पड़ा हो तो औषधि के निमित्त से एकाद रोग दूर होसकता है। इससे क्या हुवा, मिटा हुवा रोग तो पीछा संख्याता असंख्यात्म काल में पीछा होजाता है परन्तु जिनेन्द्र भगवान रूप सर्व रोग और सर्व चिकित्सा के ज्ञाता महा वैद्यराज की फरमाई हुई समाधिमरण रूप महा औषधि का सेवन कर जिससे सर्व आधि व्याधि उपाधि नाश होकर अजर अमर अनन्त अक्षय और अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो।

२२ जो वेदनाका उठाव ज्यादाहो पीड़ा ज्यादा होती हो संकल्प विकल्पों और हाय विलाप न करते हुए अपनी आत्मा को इस तरह समझा कि जैसे तीव्र ताप लगने से सोना शीघ्र निर्मल होजाता है, वैसे ही इस तीव्र वेदना के कारण यदि इसे शान्त भाव से हाय विलाप रहित होकर सहन करूंगा तो मेरे आत्मा पर लगा हुवा अशुभ कर्म रूप मैल शीघ्र ही दूर होजायगा। हाय वॉय करने से भी उदय आये हुए कर्म का जोर तो कम होता ही नहीं उल्टा अधिक नवीन कर्मों का बन्ध होता है। अतः हाय वॉय न करते हुए समभाव से ही क्यों न सहन करूं।

२३ हे चैतन्य ! तेने नरक में परवशपणे अनन्त वेदना सहन की परन्तु सम्यक्त्व विना कुछ गरज नहीं सरी। जितनी निर्जरा सागरों तक वेदना सहन करने से हुई उतनी ही नहीं उससें अनन्त गुणी अधिक निर्जरा जो तूं इस समय समभाव रखकर सहन करेगा तो तुझे होगा यह जैन सिद्धान्तों का अभिप्राय है।

२४ जो देनदार साहुकार को नम्रता से एकसो रूपये के बदले पीचहत्तर रूपे देकर फारकती मांगे तो मिल भी सकती है, और करड़ाई करे तो सवाये दाम देने से भी छुटकारा होना मुश्किल है, तैसे ही कर्म रूप लेनदार लेना मांगते हुए खड़े हैं तो तूं नम्रता से इसका देना चूकाकर फारकती लेने का प्रयत्न कर और फारकती लेकर छुटकारा कर इसी में कल्याण है।

२५ हे चैतन्य ! यह तो निश्चय से जाण कि किये हुए कर्मों का कर्ज चूका कर कृत्य कृत्य हुए बिना मोक्ष कदापि होने का नहीं। कर्म सहित कोई भी भूतकाल में सिद्ध हुवा नहीं, वर्तमान में होता नही और भविष्यत् काल में कोई होगा नहीं। अतः उदय आये हुए कर्मों को समभाव से सहन करके कृत्यऽकृत्य बन।

२६ जैसे भाव आनेपर निर्मोल्य वस्तु को बेचकर वणिक लोग महा लाभ प्राप्त करते है, वैसेही यह मृत्यु रूपी भाव आये है। इस समय तूं अपने तप संयम रूप माल का लाभ

प्राप्त करने रूप आराधिक पद प्राप्त करने का मतलब कर और समभाव धारण करके मृत्यु का स्वागत कर जिससे स्वर्ग के सुखों का भोक्ता बनकर पिछा मनुष्य जन्म प्राप्त करके संयम ग्रहण कर दुष्कर तप करता हुवा घाति कर्मों का नाश करके शास्वत सुखों का भोक्ता बने।

२७ आत्मन्! तेने इतने दिन जो ज्ञानादिका अभ्यास किया है तप त्याग और व्रतादि धारण किये है सो इस समाधि मरण में सम परिणाम रखने के लिये ही है सो अब इस बात को याद कर और समाधि युक्त संथारा संलेखना करके शल्य रहित परम शान्ति सहित जीवन को सार्थक कर।

२८ जेसे वस्त्र को बहुत दिनों तक वापर लेने से वह पुराणा हो जाता है और उससे मोह हट जाता है वैसे ही यह शरीर भी अब पुराणे जीर्ण वस्त्र सरीखा होगया है। अतः इससे ममत्व त्याग कर समाधि सहित पंडित मरण को भेटकर जिससे इहभव और परभव में आनन्द ही आनन्द वरते और शास्वत सुखों का भोक्ता बने।

—[इत्यलम्]—

नोट—उक्त भावनाएं श्रीमान् सेठ अगरचन्दजी भेरूदानजी साहब विकानेर वालों की तरफ से प्रकाशित समाधि मरण की २८ भावना से संसोधन पूर्वक उद्धत की है।

चार शरण.

अपने जीवन की अन्तिम घड़ियें बिताने वाले भव्यात्मा को परभव की यात्रा में भाथा स्वरूप ये चार शरण ही आदरणीय है। अतः इनका भी उल्लेख किया जाता है.

चत्तारिशरणं पवज्जामि. १ अरिहन्ताशरणं पवज्जामि, २ सिद्धाशरणं पवज्जामि, ३ साहुशरणं पवज्जामि, ४ केवली पण्णत्तो धम्मोशरणं पवज्जामि।

प्रथम में उन महापुरुषों का शरण ग्रहण करता हूं जो संसार रूपी वन में ज्ञानादि धन का अपहरण कर मुक्ति के मार्ग को रोकने वाले अरिस्वरूप ज्ञानावरणीयादि घाति कर्मों का हनन करके मुक्ति मार्ग को निष्कंटक बना चूके हैं। और अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य रूप लक्ष्मी को प्राप्त कर चूके हैं। जिनके पूजातिशय से अष्ट महाप्रतिहार्य रूप बाह्य सम्पत्ति भी प्रकट होगई है। असंख्य देवी देवता और इन्द्र जिनकी सेवा करके अपने को कृतकृत्य मानते हैं। चौतिस अतिशय

पेंतीस वचन वाणी के धरणहार है, जहां इन महापुरूषों के पदार्पण होते है वहां से पच्चीस २ योंजन तक मारि-मृगि, रोक शोक, अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि विघ्न दूर हो जाते है। जिनके प्रताप से सिंह और बकरी पास २ बैठने पर भी वैर विरोध नहीं जागते है। जो भव्य जीवों को सन्मार्ग का दर्शन कराकर जन्म जरा मरण के दुखों से छुड़ा मुक्ति मार्ग के सन्मुख करते है, ऐसे अरिहन्त भगवन्त आज इस भरत क्षेत्र में विद्यमान नहीं है किन्तु महाविदेह में श्री सीमंधरादि वीस तीर्थंकर तथा दो क्रोड़ केवली भगवान विचरते है, भव्य जीवों को उपदेश करके उनको कल्याण में प्रवृत करते है। ऐसे त्रिजगत्पूज्य अरिहन्त भगवन्तों का मैं शरण ग्रहण करता हूं।

२ दूसरा शरण श्री सिद्ध भगवन्त का ग्रहण करता हूं। जिन्होंने सर्व कर्म शत्रुओं का नाश करके लोक के अग्र भाग पर स्थान पाया है. जहां जन्म मरण दुःख क्लेष रोग शोक चिन्ता भय आदि सब संकट नष्ट होगये है। सम्पूर्ण जगत के चराचर भावों को जान व देख रहे है, जो सदा के लिये कृतकृत्य होगये है जिनको फिर संसार में अवतीर्ण होने का कारण ही नहीं रहा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, स्वस्वरूप रमण चारित्र, अटल अवगांहन, अमूर्त, अगुरू लघु, और

अनन्त वीर्य शक्ति ये आठ गुण आठों कर्मों का अन्त होने से प्रकट हो चुके है । जिनके आत्मिक सुखों का वर्णन करने के लिये कोई शब्द ही नहीं, उपमा देने के लिये तादृश्य वस्तु नहीं, जो निरूपम सुखके भोक्ता है, उन महापुरूषों का शरण ग्रहण करता हूं ।

३ तीसरा शरण श्री साधु भगवन्त का ग्रहण करता हूँ जिन्होंने संसार के सब प्रपंच छोड़कर अपना आत्म साधन ही मात्र ध्येय बना लिया है, जिनको किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं, किसी प्रकार भय शोक नहीं, मोहमात्सर्य दम्भ आडम्बर आदि दुर्गुणों को अपने पास फटकने ही नहीं देते हैं, सदा ज्ञान ध्यान में मग्न रहते हैं । जो भव्य जीवों के परम हितैषी है, छकाय जीवों के रक्षक एवं नाथ बन चुके हैं । भव्य जीवों को सदुपदेशादि द्वारा मुक्ति मार्ग में अग्रसर करते हैं । खुद अनेक कष्ट की परम्परा को सह लेते हैं परन्तु पर दुःख को देख नहीं सकते, उनपर करुणा बुद्धि लाकर आधि व्याधि उपाधि के दुःखों से छुड़ाते हैं, जिनके दर्शन मात्र से भव्य जीव वेर विरोध भूलकर मैत्री-भाव धारण कर लेते हैं ।

जो नाम मात्र के ही साधु नहीं कि जिनका बोझा ग्रहस्थों पर पड़े और वे अन्दर के अन्दर कलुषित भावोंको

धारणकर सत्संगत से वञ्चित रहे किन्तु जिनके दर्शन मात्र से जगत शान्ति का अनुभव करे एसे महात्मा जो अढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में विचरते हैं, जो तथारूप के श्रमण निर्ग्रंथ है, वीतराग आज्ञा के आराधक है, प्रवचन के प्रभावक है पांच महाव्रतों का निरतीचार पालन करते हैं, पांच समिति और तीन गुप्ति के आराधक है, उन महा पुरूषों का शरण ग्रहण करता हूं।

४ चौथा शरण श्री आप्त प्रदिपादित धर्म का ग्रहण करता हूं। जो धर्म आत्मा को दुर्गति में पड़ते हुए त्राण शरण भूत है, रक्षक है। जिस दयामय धर्म की आराधना करके अनन्त जीवों ने अपना कल्याण किया व कर रहे हैं, जिस धर्म के कारण आत्मा संसार सागर का पार पाकर इच्छित स्थान मुक्ति धाम) को प्राप्त कर लेता है। आत्म धर्म रूप कल्पवृक्ष का आश्रय पाकर बड़े२ पापी और क्रूर कर्मी भी पवित्र हो जाते हैं, नर्क में जाने वाले भी स्वर्ग और मोक्ष के अधिकारी बन जाते है, ऐसे पतित पावन दया दान-दमन रूप केवली परूपित धर्म का मुझे बार २ शरण हो।

आत्माको शुद्ध-पवित्र बनाने वाली-

* बारह-भावना *

॥ चौपाई में ॥

पंच परम गुरू वन्दन करूं, मन वच भाव सहित उर धरूं ।
बारह भावन पावन जान, भाऊं आतम गुण पहिचान ॥१॥

१ अनित्य-थिर नहीं दिखे नयन जो वस्तु, देहादिक अरू रूप समस्त ।
थिर बिन नेह कौनसे करूं, अथिर देख ममता परिहरूं॥२॥

२ अशरण-अशरण तोहि शरण नहीं कोय, तीनलोक में द्रगधरिजोय ।
कोई न तेरा राखनहार, कर्मवसे चैतन निराधार ॥ ३ ॥

३ संसार-अरू संसार भावना येह, पर द्रव्यन से कैसे नेह ।
तूं चेतन ये जड़ सर्वांग, ताते तजो परायो संग ॥ ४ ॥

४ एकत्व-जीव अकेलो फिरे त्रिकाल, उर्ध्व मध्य भवन पाताल ॥
दूजा कोई न तेरे साथ, सदा अकेलो फिरे अनाथ ॥ ५ ॥

५ अन्यत्व-भिन्न सदा पुद्गल से रहे, भ्रम बुद्धि से जड़ता गहे ।
वे रूपी पुद्गल के खंद, तूं चिन्मूर्ति सदा अबन्ध ॥ ६ ॥

६ अशुचि-अशुचि देख देहादिक अंग, कौन कुवस्तु लगी तेरे संग ।
अस्थि चाम रूधिरादिक देह, मलमूत्र निलख तजो सनेह ॥७॥

७ आश्रव-आश्रव पर से कीजे प्रीति, तातें बन्ध पड़े विपरीत ।
पुद्गल तोहि अपनयो नांय, तूं चेतन वे जड़ सब आंय ॥८॥

८ संवर—संवर परको रोकन भाव, सुख होवे को यही उपाव ।
आवे नहीं नये जहां कर्म, पिछले रुक प्रगटे निजधर्म ॥९॥

९ निर्जरा-स्थितिपूर्ण व्हे खिर २ जाय, निर्जरभाव अधिक अधिकाय ।
निर्मल होय चिदानंद आप, मिटे सहज परसंग मिलाप॥१०॥

१० लोक-लोकमांही तेरो कछुनांय, लोक अन्य तूं अन्य लखाय।
वहसब षट्द्रव्यनका धाम, तूंचिन्मूर्ति आत्माराम ॥ ११ ॥

११ बोध दुर्लभ परको रोकनभाव, सो तो दुर्लभ हे सुन राव ।
जो तेरेहैं ज्ञान अनन्त, सो नहीं दुर्लभ सुनहु महन्त ॥१२॥

धर्म-धर्म स्वभाव आपही जान, आप स्वभाव धर्मसो ही मान ।
जबवह धर्म प्रगट तोहे होय, तब परमातम पद लखसोय ॥१३॥

ये ही बारह भावनसार, तीर्थंकर भावें निरधार ।
होय विराग महाव्रत लेय, तबभव भ्रमण जलांजली देय॥१४॥

'भैया' भावो भाव अनूप, भावत होय तुरत शीव भूप ।
सुखअनन्त विलसो निशदिश, इस भांख्यो स्वामी जगदीश। १५।

अन्तिम आलोचना

भव्यात्मा—अपने जीवन को पवित्र बनाकर संथारा संलेहना धारण करके समाधि भाव में अपनी आत्मा को स्थापित करता है। किन्तु वेदना की उग्रता, शरीर की अशक्ति, परिसह सहन करने की अक्षमता से विचार धारा पलटने लगे तब मृत्यु महोत्सव एवं समाधि मरण की भावनाओं को बारम्बार श्रवण करता हुवा, आत्म शक्ति को विकसित करे. और आत्मबल बढ़ाकर द्रढ़ता पूर्वक प्राप्त वेदनी एवं परिषहों को सहन करता हुवा आत्मा अनात्मा की भिन्नता विचारता हुवा पौद्गलिक दशा को भूलकर आत्म दशा में रमण करें।

निम्न लिखित दोहे आत्मा को बलवती बनाते हैं।

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोहि सिद्ध होय।
कर्म मेल का अन्तरा, समझे विरला कोय ॥ १ ॥
कर्म पुद्गल रूप है, जीव रूप है ज्ञान।
दो मिलकर बहु रूप है; बिछुड्यां पद निर्वाण ॥ २ ॥
जो २ पुद्गल की दिशा, ते निज माने हंस।
या ही भर्म विभावते, बढ़े कर्म को वंश ॥ ३ ॥

कर्म संग जीव मूढ़ है, पावे नाना रूप।
कर्म रूप मल के टले, चैतन सिद्ध स्वरूप ॥ ४ ॥
कर्म रूप मल के सुधे, चैतन चांदी रूप।
निर्मल ज्योति प्रगट भये, केवल ज्ञान अनूप ॥ ५ ॥

इस प्रकार आत्मा एवं पुद्गल की भिन्नता विचारते हुए संलेहना के पांच अतिचारों को टाले वे इस प्रकार हैं।

१ इहलोगा संसप्प ओगे—इस लोक के भोग प्रधान, राजा महाराजा चक्रवर्त्यादि की ऋद्धि की वांच्छा करना।

२ परलोगा संसप्प ओगे—स्वर्ग में देव इन्द्र अहमेन्द्र पद तथा ऋद्धि की वाञ्छा करना।

३ जिविया संसप्प ओगे—संथारा संलेहना करने पर महिमा बढ़े तब अधिक जीने की वाञ्छा करना।

४ मरणा संसप्प ओगे—दुख कष्ट या वेदना की प्रबलता देखकर शीघ्र आयुष्य पूर्ण होजावे ऐसी वाञ्छा करना।

५ काम भोगा संसप्प ओगे—काम भोगों की वाञ्छा करना या ऋद्धिवानों की ऋद्धि देखकर निदान करना। उपरोक्त दोषों से बचकर जीवन की अन्तिम आराधना हो जिससे आत्मा परमात्मा बनें। इत्यलम्

सम्पादक की ओर से प्रकाशित साहित्य.

१ स्वर्गीय संसार--अपना ग्रह जीवन उन्नत एवं सुखी बनाने चाहते हैं तो इसे पढिये और प्रचार करिये। मूल्य मात्र -) आना.

२ वैधव्य दीक्षा--अपनी बहन बेटियों तथा बन्धुओं का नैतिक जीवन एवं अपनी प्रातिष्ठा कायम रखना चाहते हो तो इसे पढिये और प्रचार कीजिये। मूल्य -) एक आना मात्र.

३ भक्तामर स्तोत्र--प्रभु भक्ति एवं सद्भावना पैदा करने वाला स्तोत्र जिसमें प्रत्यक श्लोक के साथ हिन्दी भावार्थ है। मूल्य =) दो आना.

४ परमात्म प्रार्थना--भाववाही हिन्दी कविता। मूल्य -) एक आना.

५ धार्मिक परिक्षा बोर्ड रतलाम--की साधारण एवं प्रवेशिका परीक्षा की पाठ्य पुस्तकें--साधारण पाठ्य पुस्तक मूल्य ।) चार आना. प्रवेशिका प्रथम भाग मूल्य ।।=) प्रवेशिका द्वितीय भाग मूल्य ।।)

६ भारतीय आदर्श नारी अपर नाम सती जसमा--(छपरही है।)

प्राप्ति स्थानः—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल ऑफिस

चाँदनीचौक, रतलाम.